# कर्त्तव्य-पथ-प्रदर्शन

(प्रवचन-सन्मार्ग दिवाकर पूज्य आचार्य श्री ज्ञान सागर जी)

चतुर्थ संस्करण (४००० प्रति)

१-१२-१९९७

मूल्य ८) - रू०

*प्रकाशक* -

शैली श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर,

(बर्फखाना के पीछे), सब्जी मण्डी,

देहली-११०००७

## हमारे प्रकाशन

१. **पूजन-पाठ-प्रदीप** – दैनिक, पर्व व नेमित्तिक पूजन पाठ, पच स्तोत्र, मोक्षशास्त्र, दीपावली पूजन विधि, भजन आरती, चालीसे, जाप्य मंत्र, अरहंत पासाकेवली, ऋषिमण्डल स्तोत्र, सहस्रनाम स्तोत्र, शान्तिधारा, भक्ष-अभक्ष आदि का सुन्दर संग्रह २७वां संस्करण।, पृष्ठ ५६०,. कपड़े की पक्की ज़िल्द, मूल्य ३५) रुपये। *सं० पं० हीरालाल जी 'कौशल'*

२. **भक्तामर स्तोत्र** – मूल, हिन्दी अर्थ, चार भाषा भक्तामर, अंग्रेजी अनुवाद, ऋद्धि मंत्र, साधन विधि, महामण्डल पूजन विधान तथा काव्यों के यन्त्र सहित, १०वां संस्करण, पृष्ठ १९२, मूल्य सिर्फ बारह रुपये। *(सं० पं० हीरालाल जी 'कौशल')*

३. **दैनिक जैन धर्म चर्या** – (१५ वां संस्करण) दर्शन पूजन, स्वाध्याय आदि ६४ विषयों का सरल सुबोध विवेचन लेखक स्व० पं० अजित कुमार जी शास्त्री। (पृ० ११२, मूल्य ७)

४. **कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन** – आ० ज्ञान सागर (आ० विद्या सागर जी के गुरु) के प्रवचनों का सुन्दर संग्रह – पृष्ठ १०४ मूल्य ८)

५. **भक्ति की महिमा** – मूल, भाषा भक्तामर का शब्दार्थ, भावार्थ सुन्दर विवेचना – भक्तामर का पाठ करने वालों को अत्यन्त उपयोगी – ले० श्रीकृष्ण जैन, पृष्ठ १००, मूल्य ७ रुपये।

हमारे प्रकाशन तीर्थ क्षेत्रों पर भी उपलब्ध हैं।

नोट : (i) 2500 रु० से अधिक के आर्डर पर विशेष छूट।
(ii) पैकिंग, डाक व रेल भाड़ा आदि का खर्च अतिरिक्त।
(iii) बैंक द्वारा बिल्टी मंगाने के लिए बैंक का पूरा पता लिखें।
(iv) जहां पारसल मंगवाना हो वहां के स्टेशन एवं मोटर ट्रान्सपोर्ट का नाम भी लिखें।

**श्रीकृष्ण जैन**
फोन : मंत्री, श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर,
घर : 7073937 (बर्फ खाने के पीछे) सब्जी मण्डी, देहली – ७

## आमुख

गत वर्ष अक्टुबर१९९२में कर्त्तव्य-पथ-प्रदर्शन का प्रकाशन किया था जिसमें सन्मार्ग दिवाकर विद्यावारिधि पूज्य आचार्य श्री ज्ञान सागर जी महाराज के प्रवचन सरल एवं सुबोध हैं। जिसे जन साधारण भी समझ सकता है और जैन धर्म के सर्वव्यापक रूप को भलीभांति जानकर उस पर चलकर आत्म कल्याण कर सकता है।

इतना ही नहीं, जहां जहां पर भी जैन शिक्षा संस्थान हैं स्कूल हैं कालेज हैं उन मे भी सप्ताह में दो या तीन बार इसके अवतरणों या इसके लेखों-प्रवचनों को पढ़ा जा सकता है जिससे छात्र-छात्रायें अपने जीवन में चरित्र का निर्माण कर सकते हैं। तथा जैन धर्म के प्रति रूचि उत्पन्न हो सकती है। छात्र जीवन ही एक ऐसा अनमोल जीवन होता है, जिसमे संस्कारों का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। मैं समझता हूं इस प्रकार के प्रवचनों के अभाव को यह कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन पूरा करेंगी । गत वर्ष पूज्य आचार्य श्री के चरण सानिध्य में नैतिक शिक्षण शिविर का आयोजन उस समय कुण्डल पुर में हुआ था। इस पुस्तक के प्रकाशन की पूज्य एलक श्री सिद्धान्त सागर जी की सत्प्रेरणा एवं चारित्रचक्रवर्ती तपोनिधि, ज्ञान-ध्यान-तप में लीन पूज्य आचार्य श्री विद्या सागर जी का शुभाशीर्वाद भी शिविर के प्राप्त हुआ था। मैं चाहता हूं कि नैतिक शिक्षा समिति, दरियागंज दिल्ली नैतिक शिक्षण शिविरों में भी इस पुस्तक को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर बालक-बालिकाओं को संस्कारित करें। आज के इस चिन्ताजनक तथा धर्म-मार्ग से विमुख जा रहे वातावरण में इन नैतिक शिक्षण शिविरों ने गत तीन वर्षों से अनेक स्थानों पर धार्मिक संस्कार डालने का जो आयोजन चलाया है उसकी उत्त रोतर सफलता इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

इसी भांति कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन का पहला संस्करण, जन मानस को इस प्रकार पसन्द आया एवं रूचिकर लगा कि हाथों-हाथ स्वाध्याय बन्धुओं ने मंगा लिया तथा दूसरा संस्करण प्रकाशित करने की प्रेरणा दी। मेरा विश्वास है कि यह संस्करण यथाशीघ्र आपके पास पहुंच जायेगा।

इस ग्रन्थ की कुछ अपनी ही विशेषतायें हैं। इसके शीर्षक -"मनोबल ही प्रधान बल है" मन की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो।"" "दया का सहयोगी विवेक" "श्रावक की सार्थकता" आदि हैं जो स्वाध्याय करने के लिए अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इसकी भाषा सरल एवं भाव पूर्ण है। इसमें उदाहरण या बोधात्मक कथाओं से विवेचन में निखार का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

यह ग्रन्थ एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे एक बार पढ़ने से मन नहीं भरता। इसे जितनी बार पढ़ते हैं उतनी ही बार नये नये रूप में सामने आता है विचारों में समरसता उत्पन्न करता है विवेक को जागृत करता है भक्ति-गंगा में स्नान कराता है और कर्त्तव्य पथ का बोध कराता है।

मुझे प्रसन्नता है कि अब इसका प्रकाशन शैली श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, सब्जी मण्डी देहली कर रहा है प्रकाशन की पूर्ण व्यवस्था आदरणीय श्री श्रीकृष्ण जी जैन दिल्ली द्वारा होगी। यह ग्रन्थ अन्य प्रकाशकों को गौरवान्वित करेगा ऐसा विश्वास है।

*विनीत :* पद्म प्रसाद जैन
(सुप्रीम हौजरी इण्डस्ट्रीज प्रा० लि०, दिल्ली-११०००६)

## विषय सूची


(१) मनुष्य की मनुष्यता
(२) हम उन्नत कैसे बनें?
(३) स्तसंगति का सुफल
(४) सुभाषित ही सञ्जीवन है
(५) व्यर्थवादी की दुर्दशा
(६) सत्साहित्य का प्रभाव
(७) साधु समागम
(८) सकामता के साथ निष्ककामता का संघर्ष
(९) लक्ष्मी का पति
(१०) मनोबल का प्रधान बल है
(११) मन की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो?
(१२) बाल जीवन की विशेषता
(१३) दया की महत्ता
(१४) जहां दया है वहा कोई दुर्गुण नहीं
(१५) दया का सहयोगी विवेक
(१६) अभिमान का दुष्परिणाम
(१७) परिस्थिति की विषमता
(१८) स्वार्थपरता सर्वनाश की जड़ है
(१९) श्रावक की सार्थकता
(२०) उपासक का प्रशमभाव
(२१) संवेगभाव
(२२) करुणा का स्रोत
(२३) आस्तिक्य भाव
(२४) सहानुभूति
(२५) हिंसा का स्पष्टीकरण
(२६) कोई भी अपने विचारों से ही भला या बुरा बनता है
(२७) अहिंसा की आवश्यकता
(२८) अहिंसा के दो पहलू और उसकी सार्थकता
(२९) पुराने समय की बात
(३०) अपनी भलाई ही है औरों के सुधारने में
(३१) कोई किसी से जैसा कराना चाहे वैसा खुद करे
(३२) अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है
(३३) अहिंसा में अपवाद
(३४) जैन वीरों की देशभक्ति
(३५) जैन कौन होता है?
(३६) अहिंसक के लिये विरोध का क्षेत्र
(३७) राम और रावण
(३८) कुलक्रम निश्चित नहीं है
(३९) एक झील का अटल संकल्प
(४०) अहिंसा की निरुक्ति
(४१) राजनीति और धर्मनीति
(४२) हिंसा के रूपान्तर
(४३) अहिंसा का माहात्म्य
(४४) सत्य की पूजा
(४५) सत्यवादी के स्मरण रखने योग्य बातें
४६) सत्य परमेश्वर है
४७) अदत्तादान का विवेचन
४८) आज कल के लोगों का दृष्टिकोण
४९) काम पर विजय श्रेयकर है
५०) विवाह की उपयोगिता
५१) विवाह का मूल उद्देश्य
५२) सन्तोष ही सच्चा धन है
५३) गरीब कौन है?
५४) परिग्रह की सब पापों का मूल है
५५) न्यायोपात्त धन
५६) दूसरे की कमाई खाना गृहस्त के लिए कलंक है
५७) न्यायोचित वृत्ति
५८) महाराजा रामसिंह
५९) हमारी आंखों देखी बात
६०) शिल्प कला
६१) व्यापार
६२) उदारता का फल सुमधुर होता है
६३) पशु पालन
६४) अन्याय के धन का दुष्परिणाम
(६५) कर्त्तव्य और कार्य
(६६) साधक का कार्य क्षेत्र
(६७) व्यर्थ के पाप पाखण्ड
(६८) अनर्थदण्ड के प्रकार
(६९) मानवपन नपा तुला होना चाहिये
(७०) शाकाहारी बनना चाहिये
(७१) दूध का उपयोग
(७२) नशेबाजी से दूर हो
(७३) रात्रि में भोजन करना मनुष्य के लिए अप्राकृतिक है
(७४) रात्रि में भोजन करने से हानि
(७५) पर्यालोचन
(७६) उपवास का महत्व
(७७) दान करना
(७८) दान अपनी कमाई में से देना
(७९) दान का सहा तरीका
(८०) बड़ा दान
(८१) समाधिमरण
(८२) मौत क्या चीज है?

# आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का जीवनवृत्तान्त

## जन्मवृत्त

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी का पूर्वनाम श्री भूरामल जी था। उनका जन्म राजस्थान के जयपुर समीपवर्ती राणोली ग्राम में छावड़ागोत्रीय दिगम्बर जैन खण्डेलवाल परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री चतुर्भुज और माता का नाम श्रीमती घृतवरी देवी था। श्री भूरामल पाँच भाई थे ; छगनलाल, भूरामल, गंगाप्रसाद, गौरीलाल और देवीदत्त। देवीदत्त का जन्म तो पिता की मृत्यु के बाद हुआ था। पिता की मृत्यु सन् १९०२ (वि.सं.१९५९) में हुई थी। उस समय बड़े भाई की आयु १२ वर्ष एवं भूरामल जी की दस वर्ष थी। पिता के आकस्मिक निधन से घर की अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई। फलस्वरूप बड़े भाई छगनलाल को जीविकोपार्जन हेतु बाहर जाना पड़ा। वे गया पहुँचे और वहाँ एक जैन व्यवसायी के यहाँ कार्य करने लगे। भूरामल जी ने अपने गाँव के विद्यालय में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की थी। आगे अध्ययन का साधन न होने से वे भी अपने बड़े भाई के पास गया चले गये और एक जैन व्यवसायी के प्रतिष्ठान में व्यावसायिक कार्य सीखने लगे।

## शिक्षा

गया में लगभग एक वर्ष ही व्यतीत हुआ था कि उनका साक्षात्कार किसी समारोह में भाग लेने आये स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्रों से हुआ। उन्हें देखकर बालक भूरामल के हृदय में भी वाराणसी जाकर विद्याध्ययन करने की तीव्र उत्कण्ठा जागरित हुई। उन्होंने अपनी इच्छा बड़े भाई से निवेदित की। किन्तु आर्थिक अनुकूलता न होने के कारण बड़े भाई ने अनुमति नहीं दी। पर, बालक भूरामल अपनी ज्ञानपिपासा का दमन करने में समर्थ न हुआ और लगभग पन्द्रहवर्ष की अवस्था में अध्ययनार्थ बनारस चला गया।

स्याद्वाद महाविद्यालय में भूरामल जी अध्ययन को ही महत्व देते थे। जहाँ आपके अधिकांश साथी विभिन्न परीक्षाएँ देकर उपाधियाँ अर्जित करने में रुचि रखते थे, वहाँ आपकी दृष्टि में ज्ञानार्जन ही महत्वपूर्ण था। आपका विचार था कि जब उपाधियाँ लक्ष्य बन जाती हैं तब ज्ञान गौण हो जाता है। उपाधियाँ तो मात्र उत्तीर्णांक पाने योग्य ज्ञान से भी उपलब्ध हो जाती हैं। वे ज्ञानगाम्भीर्य का प्रमाण नहीं हैं। इस मान्यता के कारण आपने अनावश्यक परीक्षाएँ देना उचित नहीं समझा और अहोरात्र ग्रन्थों के अध्ययन में ही लगे रहते थे। एक ग्रन्थ का अध्ययन समाप्त होते ही दूसरा आरम्भ कर देते थे। इस प्रकार स्वल्पकाल में ही आपने शास्त्री स्तर तक के ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया।



## नवप्रवर्तन

उस समय पाठ्यक्रम में व्याकरण, साहित्य आदि के जैनेतर ग्रन्थ ही निर्धारित थे, क्योंकि अधिकांश जैनग्रन्थ अप्रकाशित अतएव अनुपलब्ध थे। फलस्वरूप जैन छात्रों को जैनेतर ग्रन्थों का ही अध्ययन करना पड़ता था। इससे श्री भूरामल जी को अत्यन्त दुःख होता था। वे सोचते थे कि जैन आचार्यों ने व्याकरण, न्याय एवं साहित्य के अद्वितीय ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु उन्हें पढ़ने के सौभाग्य से हम वंचित हैं। यह पीड़ा उनके मन में उथल-पुथल मचाती रहती थी। तब तक जैन न्याय और व्याकरण के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे। इसका सुफल यह हुआ कि आपने अन्य लोगों के सहयोग से अथक प्रयत्न करके उन ग्रन्थों को काशी विश्वविद्यालय और कलकत्ता परीक्षालय के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित करवा दिया। इस समय आपकी दृष्टि इस तथ्य पर गई कि जैन वाङ्मय में काव्य और साहित्य के ग्रन्थों की न्यूनता है। अतः आपने संकल्प किया कि अध्ययन समाप्ति के अनन्तर आप इस न्यूनता को दूर करेंगे। यह बात उल्लेखनीय है कि वाराणसी में आपने व्याकरण, न्याय और साहित्य के जैनाचार्यरचित ग्रन्थों का ही अध्ययन किया। उस समय स्याद्वाद महाविद्यालय में जितने भी विद्वान् अध्यापक थे वे सभी ब्राह्मण थे। वे जैनग्रन्थों को पढ़ाने में रुचि नहीं लेते थे, जबकि श्री भूरामल जी के हृदय में जैन ग्रन्थों को पढ़ने और प्रकाश में लाने की प्रबल इच्छा थी। अतएव जैसे भी, जिस अध्यापक से भी संभव हुआ, आपने जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया।

महाविद्यालय में पंडित उमरावसिंह जी धर्मशास्त्र के अध्यापक थे, जो बाद में ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनसे आपको जैन ग्रन्थों के पठन-पाठन के लिए बहुत प्रोत्साहन मिला। इसीलिए आपने अपनी रचनाओं में उनका गुरुरूप से स्मरण किया है।

## साहित्यसर्जना

अध्ययन समाप्त कर पंडित भूरामल जी अपने ग्राम राणोली लौट आये। अब आपके सामने कार्यक्षेत्र के चुनाव का प्रश्न था। उस समय यद्यपि आपके घर की परिस्थिति ठीक नहीं थी और अन्य विद्वान् विद्यालयों से निकलते ही पाठशालाओं और विद्यालयों में वैतनिक सेवा स्वीकार कर रहे थे, तथापि आपको वेतन लेकर अध्यापन कराना उचित प्रतीत नहीं हुआ। अतः आपने अपने ग्राम में रहकर व्यवसाय द्वारा आजीविका अर्जित करते हुए स्थानीय जैन बालकों को निःस्वार्थभाव से शिक्षा देने का कार्य प्रारंभ किया और दीर्घकाल तक करते रहे। आपके अग्रज भी गया से वापिस आ गये थे। अतः दोनों भाईयों ने मिलकर व्यवसाय किया और छोटे भाइयों के लालन-पालन और शिक्षा दीक्षा में लग

गये। आपकी विद्वत्ता और व्यावसायिक योग्यता देखकर अनेक लोग विवाह-प्रस्ताव लेकर आये। आपके भाइयों तथा सम्बन्धियों ने भी विवाह के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु आपने तो अध्ययनकाल में ही आजीवन ब्रह्मचारी रहकर जैन साहित्य के सर्जन तथा प्रचार में जीवन व्यतीत करने का संकल्प कर लिया था। फलस्वरूप आपने विवाह करना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। व्यावसायिक कार्य से भी उन्होंने अपने को पृथक् कर लिया। उसे छोटे भाइयों पर छोड़कर अपना सम्पूर्ण समय अध्यापन एवं साहित्यसाधना में व्यतीत करने लगे। फलस्वरूप आपने अनेक संस्कृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की रचना कर इन भाषाओं के साहित्य को विपुल समृद्धि प्रदान की। आपके द्वारा रचित ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है।

## संस्कृत कृतियाँ

(१) दयोदय - यह एक चम्पूकाव्य है जिसमें अहिंसा धर्म का माहात्म्य बतलाया गया है।
(२) जयोदय - यह जयकुमार और सुलोचना की कथा पर आश्रित अपरिग्रहव्रत का माहात्म्य दर्शानेवाला महाकाव्य है।
(३) वीरोदय - यह भी महाकाव्य है, जिसमें श्री वीरभगवान् के चरित्र का चित्रण तथा अनुपम उपदेशों की व्यंजना है।
(४) सुदर्शनोदय- इस महाकाव्य में सुदर्शन सेठ की कथा के द्वारा ब्रह्मचर्य-शीलव्रत का माहात्म्य द्योतित किया गया है।
(५) भद्रोदय - इसमें सत्यघोष की कथा के माध्यम् से असत्य सम्भाषण एवं परधनापहरण के दुष्परिणाम तथा सत्यवचन के सुपरिणाम पर प्रकाश डाला गया है।
(६) मुनिमनोरंजनाशीति- इसमें अस्सी पद्यों के द्वारा मुनियों के कर्त्तव्यों का वर्णन है।
(७) प्रवचनसार-प्रतिरूपक - यह आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार की गाथाओं का श्लोकबद्ध छायानुवाद है।
(८) सम्यक्त्वसारशतक - इसमें सौ पद्यों में सम्यक्त्व का निरूपण है।

## हिन्दी कृतियाँ

(१) ऋषभावतार - इसमें गीतिका, चौपाई आदि छन्दों में भगवान् ऋषभदेव के चरित्र का चित्रण है।
(२) गुणसुन्दरवृत्तान्त - इस काव्यग्रन्थ में राजा श्रेणिक के समय में युवावस्था में दीक्षित एक श्रेष्ठिपुत्र के चरित्र का सुन्दर वर्णन है।
(३) भाग्योदय - इसमें धन्यकुमार के चरित्र का चित्रण है।



(४) जैनविवाहविधि - इसमें जैनधर्म के अनुकूल विवाहविधि का वर्णन है।
(५) तत्त्वार्थसूत्रटीका - यह अपने ढंग की एक अनोखी टीका है। इसमें प्रसंगवश अनेक नवीन विषयों की चर्चा की गई है।
(६) कर्त्तव्यपथप्रदर्शन - यह सर्वसाधारण के दैनिक कर्त्तव्यों का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है।
(७) विवेकोदय - यह आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथाओं का गीतिका, छन्द में रूपान्तर है।
(८) सचित्तविवेचन - इसमें सचित्त और अचित्त पदार्थों का आगम के आधार पर प्रामाणिक विवेचन किया गया है।
(९) देवागमस्तोत्र का पद्यानुवाद - यह जैनगजट में क्रमशः प्रकाशित हुआ है।
(१०) नियमसार का पद्यानुवाद - इसका भी जैन गजट में क्रमशः प्रकाशन हुआ है।
(११) अष्टपाहुड़ का पद्यानुवाद - यह 'श्रेयोमार्ग' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हो चुका है।
(१२) मानवजीवन - इसमें मानवजीवन की महत्ता प्रतिपादित कर कर्त्तव्यपथ पर चलने की प्रेरणा दी गई है।
(१३) स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म - यह स्वामी कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर जैन धर्म की सत्यता प्रतिपादित करने वाला ग्रन्थ है।

आपने संस्कृत भाषा में जिन काव्य ग्रन्थों की रचना की है उनकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़, प्रांजल एवं लक्षणा-व्यंजना, गुण, अलंकार आदि काव्यगुणों से विभूषित है तथा उनमें विभिन्न रसों के माध्यम से जैनधर्म के प्राणभूत अहिंसा, सत्य आदि मूलव्रतों एवं साम्यवाद, अनेकान्तवाद, कर्मवाद आदि आगमिक एवं दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

## चरित्र की ओर कदम

इस प्रकार अध्ययन-अध्यापन एवं अभिनव ग्रन्थों की रचना करते हुए जब युवावस्था व्यतीत हुई तब आपके मन में चरित्र धारण कर आत्मकल्याण करने की अन्तः स्थित भावना बलवती हो उठी। फलस्वरूप बालब्रह्मचारी होते हुए भी सन् १९४७ (वि.सं. २००४) में व्रतरूप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर ली। इस अवस्था में भी आप ज्ञानसाधना में निरन्तर संलग्न रहे और इसी समय प्रकाशित हुए सिद्धान्त ग्रन्थ धवल, जयधवल एवं महाबन्ध का विधिवत् स्वाध्याय किया। चरित्रपथ पर अग्रसर होते हुए सन् १९५५ (वि.सं. २०१२) में आपने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली। लगभग ढाई वर्ष तक इस अवस्था में रहकर आपने संयम की साधना की और अन्तरंग निर्मलता में वृद्धि के फलस्वरूप उच्चतर संयम-पालन की सामर्थ्य हो जाने पर सन् १९५७ (वि.सं. २०१४) में

आपने खानिया (जयपुर) में आचार्य शिवसागर जी महाराज से उनके प्रथम मुनिशिष्य के रूप में दीक्षा ग्रहण की और मुनि श्री ज्ञानसागर जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। तब से आप जीवनपर्यन्त निर्दोष मुनिव्रत का पालन करते हुए निरन्तर शास्त्रों के अध्ययन, मनन और चिन्तन में लगे रहे।

### आचार्यपद

७ फरवरी १९६९ को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्यपद से अलंकृत किया और मुनि श्री विवेकसागर जी ने आपसे मुनिदीक्षा ग्रहण की।

### चरित्रचक्रवर्ती पद

२० अक्टूबर १९७२ में श्री क्षुल्लक स्वरूपानन्द जी की दीक्षा के अवसर पर नसीराबाद के जैन समाज ने आपको चरित्रचक्रवर्ती पद से सम्बोधित कर अपना श्रद्धातिरेक एवं प्रगाढ़ भक्तिभाव अभिव्यक्त किया।

### शिष्यवृन्द

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के प्रमुख शिष्यों में आचार्य श्री विद्यासागर जी वर्तमानयुग के सर्वाधिक लब्धख्याति मुनि हैं। अन्य प्रमुख शिष्य हैं :- मुनि श्री विवेकसागर जी, मुनि श्री विजयसागर जी, ऐलक श्री सन्मति सागर जी, क्षुल्लक स्वरूपानन्द जी, क्षुल्लक सुखसागर जी, क्षुल्लक सम्भवसागर जी, तथा ब्रह्मचारी लक्ष्मीनारायण लाल जी।

### समाधिमरण

लगभग ८० वर्ष की आयु में आचार्य ज्ञानसागर जी का शरीर रत्नत्रय की साधना में असमर्थ हो गया। उन्होंने अपना आचार्यपद दिनांक २२ नवम्बर १९७२ को अपने योग्यतम शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को सौंप दिया और उनसे सल्लेखना व्रत ग्रहण कर लिया। समाधि की अवस्था में आचार्य विद्यासागर जी एवं क्षुल्लक स्वरूपानन्द जी निरन्तर उनकी सेवा में संलग्न रहे। अन्त में १ जून १९७३ (ज्येष्ठ कृष्ण १५, वि.सं. २०२३) को दिन में १० बजकर ५० मिनट पर नसीराबाद नगर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी ने पार्थिव देह का परित्याग कर दिया।

लेखक - डॉ. रतनचन्द्र जैन
रीडर (प्राकृत) तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग,
भोपाल विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)



श्री

# कर्तव्य-पथ-प्रदर्शन

## इष्ट-स्तवनम्

*कर्त्तव्य पथ हम पामरों के लिए भी दिखला रहे।*
*हो आप दिव्यालोकमय करुणानिधे गुणधाम हे।।*
*फिर भी रहें हम भूलते भगवान् वकी कुटेव से।*
*इस ही लिये इस घोर संकटपूर्ण भव वन में फँसे।।*

## (१) मनुष्य की मनुष्यता

माता के उदर से जन्म लेते ही मनुष्य तो हो लेता है फिर भी मनुष्यता प्राप्त करने के लिये इसे प्रकृति की गोद में पल कर समाज के सम्पर्क में आना पड़ता है। वहाँ इसे दो प्रकार के सम्पर्क प्राप्त होते हैं-एक तो इसका बिगाड़ करने वालों के साथ, दूसरे इसका भला चाहने वालों के साथ। अतः इसे भी दोनों ही तरह प्रेरणा प्राप्त होती है। अब यदि यह इसका भला करने वालों के प्रति भलाई का व्यवहार करता है कि अमुक ने मेरा अमुक कार्य निकाला है, मैं उसे कैसे भूल सकता हूँ, इसके बदले में मेरा सर्वस्व अर्पण करके भी मैं उनसे उऋण नहीं बन सकता। इस प्रकार आभार मानने वाला एवं समय आने पर यथाशक्य उसका बदला चुकाने की सोचते रहने वाला आदमी मनुष्यता के सम्मुख होकर जन से सज्जन बनने का अधिकारी होता है। हां !, अपने अपकारी का भी उपकार ही करना जानता हो तो उसका फिर कहना ही क्या ! वह तो महाजन होता है। कोई-कोई ऐसा होता है जो भलाई का बदला भी बुराई के द्वारा चुकाया करता है, उसे जन कहें या दुर्जन ? कर्त्तव्यता की सीढ़ी पर खड़ा हुआ आदमी एक जगह नहीं रह सकता। वह या तो ऊपर की ओर बढ़े या नीचे को आना तो अवश्यम्भावी है ही। घड़ी का काँटा चाबी देने के बाद रुका नहीं रह सकता, उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक सांस है तब तक निठल्ला नहीं रह सकता। चाहे भलाई के कार्य करे या बुराई के, उसे कुछ तो करना ही होगा। अतः बुराइयों में फँसकर अवनत बनने की अपेक्षा से भलाई के कार्य करते चले जाना एवं अपने आपको उन्नत से उन्नततर बनाना ही मनुष्यता है। बन्धुओ ! बहुत से देश ऐसे हैं जहाँ

भलाई के साधन अत्यन्त दुर्लभ हैं। वहाँ के लोगों को परिस्थिति से बाध्य होकर अपना जीवन पशुओं जैसा बिताना पड़ता है। परन्तु हम भारतवासियों के लिये तो उन सब ने प्रारम्भ से ही सामाजिक रहन-सहन ऐसा सुन्दर स्थापित कर रखा है कि हम उसे अनायास ही अपने जीवन में उतार सकते हैं और अपने आपको सज्जन ही नहीं बल्कि सज्जन-शिरोमणि भी बना सकते हैं। फिर भी हम उनका सदुपयोग न करके उनके विरुद्ध चलें यह तो हमारी ही भूल है।

## ( २ ) हम उन्नत कैसे बनें ?

पानी से पूछा गया कि तुम्हारा रंग कैसा है ? उत्तर मिला कि जैसा रंग का सम्पर्क मिल जावे वैसा। अर्थात् पानी पीले रंग के साथ में घुलकर पीला, तो हरे रंग के साथ में घुलकर हरा बन जाता है। ऐसा ही हाल इस मनुष्य का भी है। इसको प्रारम्भ से जैसे भले या बुरे की संगति प्राप्त होती है वैसा ही वह खुद हो जाया करता है। अभी कुछ वर्षों पहले की बात है _ लखनऊ के अस्पताल में एक प्राणी लाया गया था जो कि अपनी चाल-ढाल से भेड़िया बना हुआ था, परन्तु वस्तुतः वह मनुष्य था। जो कि कच्चे मांस के सिवा कुछ नहीं खाता था। वैसे ही अपनी शारीरिक चेष्टा-झपट्टा मारना वगैरह करता था। बात ऐसी है कि एक नन्हें बालक को भेड़िया उठा ले गया। बालक के माँ-बाप ने सोचा कि उसे तो भेड़िया खा गया होगा परन्तु भेड़िये ने उसे अपने बच्चे के समान पाला-पोषा। जैसा माँस आप खाता था वैसा कुछ मांस उस बच्चे को भी दे दिया करता था एवं अपने पास प्रेम पूर्वक रखा। करीब १२-१४ वर्ष की अवस्था में वह उन अस्पताल वालों की निगाह में आ गया और चिकित्सा के लिए लाया गया। धीरे-धीरे अब वह कच्चा मांस खाने की अपेक्षा पकाया हुआ मांस खाने लगा और कोई-कोई जबान मनुष्य की सी बोलने लग गया। मतलब यही कि मनुष्य जैसी सोहवत संगत में रहता है वैसा ही बन जाता है। बुरों के साथ में रहने से अपने आप बुरा बनते हुए औरों का भी बुरा करने वाला होता है। तो अच्छों के साथ में रहकर खुद अच्छा होता चला जाता है एवं समाज का भी भला करने वाला होता है। अतः हमें चाहिये कि हम भले लोगों की संगति में रहें और भले बनें, यही हमारी उन्नति है।

## ( ३ ) सत्संगति का सुफल

एक बार की बात है, एक बहेलिया दो तोते लाया। उनमें से उसने एक तो किसी वेश्या को दे दिया और दूसरे को एक पण्डित जी के हाथ बेच दिया। थोड़े दिन के बाद



वेश्या एक रोज महफिल करने राज दरबार में पहुँची। उसका तोता उसके हाथ में था सो पहुँचते ही राजा के सम्मुख अनेक प्रकार के भण्ड वचन सुनाने लगा। राजा को गुस्सा आया और उसने हुक्म दिया कि इसे मार डाला जावे। तोता बोला - हुजूर ! मैं मारा तो जाऊंगा ही परन्तु इससे पहले मुझे मेरे भाई से मिला दीजिये। राजा ने कहा तेरा भाई कहाँ है ? तोते ने कहा - गिरधरजी शर्मा के यहाँ रहता है। उसी समय राजदूत गया और मय तोते के गिरधरजी शर्मा को बुला लाया। गिरधरजी शर्मा तो बोले ही नहीं उनके पहले ही उनके तोते ने आते ही राजा को अनेक तरह के शुभाशीर्वाद दिये, राजा बहुत खुश हुआ। सहसा राजा के मुँह से निकल पड़ा कि शाबाश ! जीते रहो तुम और तुम्हारा साथी। वेश्या वाले तोते ने कहा कि तब फिर तो मैं भी अब अमर बन गया क्योंकि साथी तो मैं ही हूँ। राजा असमञ्जस में पड़ गया तो पंडितजी वाले तोते ने वकालत की कि प्रभु इसमें विचारने की क्या बात है ? यह दुष्ट है, सचमुच इसने आपके साथ बुरा बर्ताव किया है, किन्तु आप तो सज्जनों के सरदार हैं, आपका तो काम बुरा करने वालों के साथ भी भला बर्ताव करना ही होना चाहिये। पृथ्वी के पूत - पेड़ों का भी यही हिसाब है कि वे लोग पत्थर मारने वालों को भी उसके बदले में मीठा फल प्रदान किया करते हैं। आप तो पृथ्वी के पति हैं, सम्पूर्ण प्रजा के नाथ हैं, आपका तो सभी के साथ प्रेम होना चाहिये। हाँ ! यदि यह अब भी सचेत होगा तो आगे के लिए अपने इस दुर्व्यवहार का त्याग कर सही मार्ग का अनुसरण करेगा, बस इतना ही कहना पर्याप्त है।

## ( ४ ) सुभाषित ही सज्जीवन है

जिसको सुनकर भूला भटका हुआ आदमी ठीक मार्ग पर आ जावे और मार्ग पर लगा हुआ आदमी दृढ़ता के साथ उसे अपनाकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करने में समर्थ बन जावे उसे सुभाषित कहते हैं। यद्यपि बिना बोले आदमी का कोई भी कार्य सुचारु नहीं होता, किन्तु अधिक बोलने से भी कार्य होने के बदले बिगड़ जाया करता है। समय पर न बोलने वाले को मूक कहकर उसका निरादर किया जाता है, तो अधिक या व्यर्थ बोलने वाले की भी वावदूक या वाचाल कहकर भर्त्सना ही की जाती है। तुली हुई और समयोचित बात का ही दुनियाँ में आदर होता है। यहाँ हमें महाभारत के एक प्रसंग का स्मरण हो आता है। कौरवों और पाण्डवों में घमासान युद्ध हो रहा था। इधर पाण्डव पाँच भाई थे तो उधर भी कर्ण, भीष्म, जयद्रथ आदि प्रमुख योद्धा थे। बल्कि द्रोणाचार्य तो बाण विद्या के अधिनायक थे जो कि कौरवों की तरफ से खड़े होकर पाण्डवों की सेना में विध्वंस मचा रहे थे। यह देखकर श्रीकृष्ण के दिल में विचार आया कि अगर कुछ देर भी ऐसा होता रहा तो आज

अवश्य ही पाण्डवों की पराजय हो जायेगी। इतने ही में एक हाथी मारा गया। श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर के पास जाकर पूछा कि भूपते कौन मारा गया ? युधिष्ठिर इसका उत्तर अनुष्टुप चरण में 'अश्वत्थामा हतो हस्ती' इस प्रकार से देने वाले थे, उन्होंने बोलना प्रारम्भ करके 'अश्वत्थामा हतो' इतना ही बोला था कि उसी क्षण श्रीकृष्ण ने अपना पाञ्चजन्य शंख बजा दिया। लोगों ने समझा कि द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। अश्वत्थामा मुख्य योद्धाओं में से था, अतः इसे सुनकर पाण्डवों की सेना में उत्साह छा गया और कौरवों की सेना भंग होकर उनमें शोक छा गया और पुत्र शोक से द्रोणाचार्य का भुजबल भी ढीला पड़ गया। इसका नाम है अवसरोचित बात, जिससे कि अनायास ही कार्य सिद्ध हो जाता है। हाँ, व्यर्थ की बकवाद करने वाला आदमी अपने आप विपत्ति के गर्त में गिरता है।

## ( ५ ) व्यर्थवादी की दुर्दशा

जंगल में एक तालाब था, उसका जल ज्येष्ठ माह की प्रखर धूप में सूखकर नाममात्र रह गया। उनके किनारे पर रहने वाले दो हंसों ने आपस में सलाह की कि अब यहाँ से किसी भी अन्य जलाशय पर चलना चाहिये, जिसको सुनकर उनके मित्र कछुवे ने कहा कि - "तुम लोग तो आकाश मार्ग से उड़कर चले जाओगे, परन्तु मैं कैसे चल सकता हूँ ?" हंसों ने सोचा बात तो ठीक ही है और एक अपने मित्र को इस प्रकार विपत्ति में छोड़कर जाना भी भलमनसाहत नहीं है, अतः अपनी बुद्धिमत्ता से एक उपाय सोच निकाला। एक लम्बी सरल लकड़ी लाये और कछुवे से कहा कि "तुम अपने मुँह से इसे बीच में पकड़ लो, हम दोनों इसके इधर-उधर के अन्त भागों को अपनी चोंचों से पकड़ कर ले उड़ते हैं, यही ठीक होगा।" इस प्रकार तीनों आसमान में चलने लगे। चलते-चलते धरातल पर मध्य में एक गाँव आया। गाँव के लोग नया दृश्य देखकर अचम्भे में पड़े और आपस में कहने लगे कि - "देखो यह कैसा विचित्र खेल है।" यों कल-कल मचा देखकर कछुवे से न रहा गया, वह बोल पड़ा कि क्यों चक-चक करते हो, बस फिर क्या था, धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा और पकड़ा गया। मतलब यह है कि मनुष्यों में अपने भले के लिये शारीरिक संयम के साथ-साथ वाणी का भी संयम होना चाहिये। शारीरिक संयम उतना कठिन नहीं है जितना कि मनुष्य के लिये वाक् संयम ; एवं मानसिक संयम तो उससे भी कहीं अधिक कठिन है। वाणी का संयम तो मुँह बन्द किया और हो सकता है, किन्तु मन तो फिर भी चलता ही रहेगा। मनुष्य का मन इतना चंचल है कि वह क्षण भर में कहीं का कहीं दौड़ जाता है। इसके नियन्त्रण के लिए तो सतत् साधु-संगति और सत्साहित्यावलोकन के सिवाय और कोई भी उपाय नहीं है। यद्यपि साधुओं का समागम



हरेक के लिये सुलभ नहीं है फिर भी उनकी लिखी हुई पुस्तकों को पढ़कर अपना जीवन सुधारा जा सकता है।

## ( ६ ) सत्साहित्य का प्रभाव

सुना जाता है कि महात्मा गाँधी अपनी बैरिस्ट्री की दशा में एक रोज रेल से मुसाफिरी कर रहे थे। सफर पूरे बारह घण्टों का था। उनके एक अंग्रेज मित्र ने उन्हें एक पुस्तक देते हुए कहा कि आप अपने इस सफर को इस पुस्तक के पढ़ने से सफल कीजियेगा। उसको गाँधीजी ने शुरू से आखिरी तक बड़े ध्यान से पढ़ा। उस पुस्तक को पढ़ने से गाँधीजी के चित्त पर ऐसा असर हुआ कि उन्होंने अपनी बैरिस्ट्री छोड़कर उसी समय से सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। आजकल पुस्तक पढ़ने का प्रचार आम जनता में भी बड़े वेग से बढ़ रहा है और वह बुरा भी नहीं है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ने के लिये पुस्तक ऐसी चुननी चाहिये जिसमें कि-मानवता का झरना बह रहा हो। जिसके प्रत्येक वाक्यों में निरामिष-भोजिता, परोपकार, सेवा भाव आदि सद्गुणों का पुट लगा हुआ हो। विलासिता, अविवेक, डरपोकपन आदि दुर्गुणों का निर्मूलन करना हो और किसी भी भाषा में हो उसके पढ़ने में कोई हानि नहीं। कुछ लोग समझते हैं कि अपनी साम्प्रदायिक पुस्तकों के सिवाय दूसरी पुस्तकों का पढ़ना सर्वथा बुरी बात है, परन्तु यह उनका समझना ठीक नहीं। क्योंकि समझदार के लिये तो बुराइयों से बचना एवं भलाई की ओर बढ़ना यह एक ही सम्प्रदाय होना चाहिये। अतः जिन पुस्तकों के पढ़ने से हमारे मन पर बुरा असर पड़ता हो, जिनमें अश्लील, उद्दण्डतापूर्ण अंहकारादि दुर्गुणों को अंकुरित करने वाली बातें अंकित हों ऐसी पुस्तकों से अवश्य दूर रहना चाहिये। पुस्तकों से ही नहीं बल्कि ऐसे वातावरण से भी हर समय बचते ही रहना चाहिये क्योंकि मनुष्य के हृदय में भले और बुरे दोनों ही तरह के संस्कार हुआ करते हैं जो कि समय और कारण को पाकर उदित हो जाया करते हैं। व्यापार करते समय मनुष्य का मन इतना कठोर हो जाता है कि वह किसी गरीब को भी एक पैसे की रियासत नहीं करता, परन्तु भोजन करने के समय कोई भूखा, अपाहिज आ खड़ा हो तो उसे झट ही दो रोटी दे देता है। मतलब यही कि उस-उस स्थान का वातावरण भी उस-उस प्रकार का होता है, अतः मनुष्य का मन भी वहाँ पर परिणमन कर जाया करता है। आप जब सिनेमा हॉल में जावेंगे तो आपका दिल वहाँ की चहल-पहल देखने में लालायित होगा परन्तु जब आप चलकर श्री भगवान् के मन्दिरजी में जावेंगे तो वहाँ यथाशक्ति नमस्कार मन्त्र का जाप देना और भजन करना जैसे कामों में आपका मन प्रवृत होगा। हाँ, यह बात दूसरी है कि अच्छे वातावरण में रहने का

मौका इस दुनियादारी के मनुष्य को बहुत कम मिलता है, इसका अधिकांश समय तो बुरे वातावरण में ही बीतता है। अतः अच्छे विचार प्रयास करने पर भी कठिनता से प्राप्त होते हैं। और प्राप्त होकर भी बहुत कम समय तक ही ठहर पाते हैं। किन्तु बुरे विचार तो अनायास ही आ जाया करते हैं तथा देर तक टिकाऊ होते हैं। अतः बुरे विचारों से बचने के लिए और अच्छे विचारों को बनाये रखने के लिए सत्साहित्य का अवलोकन, चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिये।

## (७) साधु समागम

अपने विचारों को निर्मल बनाने के लिए जिस प्रकार से सत्साहित्य का अध्ययन करना जरूरी है उसी प्रकार अपने जीवन को सुधारने के लिए मनुष्य को समीचीन साधुओं का संसर्ग प्राप्त करना उससे भी कहीं अधिक उपयोगी होता है। मनुष्य के मन के मैल को धोने के लिए उत्तम साहित्य का पठन-पाठन, जल और साबुन का काम करता है। परन्तु पुनीत साधुओं का समागम तो इसके जीवन में चमत्कार लाने के लिए वह जादू का सा कार्य करता है जैसा कि लोहे के टुकड़े के लिए पारस का संसर्ग। अतः विचारशील मनुष्य को चाहिये कि साधुओं का सम्पर्क प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहे और प्राप्त हो जाने पर यथाशक्य उससे लाभ उठाने में न चूके। ऐसा करने से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल और सार्थक बना सकता है। आज के लगभग अढ़ाई हजार वर्ष पहले की बात है कि भगवान महावीर के शिष्य सुधर्मस्वामी देश-देशान्तर में भ्रमण करते हुए आकर राजगृह नगर के उपवन में ठहरे। उनके आने का समाचार सुनकर राजगृह की जनता उनके दर्शन को आयी और उनके धर्मोपदेश को सुनकर एवं अपनी योग्यतानुसार मनुष्योचित नियम-व्रत लेकर अपने-अपने घर को गयी। उन्हीं में एक जम्बुकुमार नाम का साहूकार का लड़का था, उसने सोचा स्वामीजी जब यह फरमा रहे हैं कि मनुष्य जन्म को पाकर इसे एकान्त-क्षणिक-विषय-वासना के चक्कर में ही नहीं बिता देना चाहिये किन्तु कुछ परमार्थिक कार्य तो करना ही चाहिये। अहो ! यह भोला मनुष्य जिस भौतिक विभूति के पीछे लग कर चल रहा है, एक न एक दिन तो इसको उसे छोड़ना ही होगा। अगर वह उसे छोड़ दे और वह इसे छोड़े इन दोनों बातों में उतना अन्तर तो कम से कम अवश्य है जितना की मनुष्य के टट्टी जाने तथा उल्टी हो जाने में हुआ करता है। अर्थात् आप जब प्रातः जंगल होकर आते हैं तो आपका चित्त प्रसन्न होता है किन्तु समुचित भोजन करें और भोजन करने के अनन्तर ही किसी कारण से कै हो जावे तो आपका जी मिचलावेगा, बस यही हिसाब सम्पत्ति के छोड़ देने और छूट जाने में है, अतः प्राप्त सम्पत्ति को



छोड़कर दूर होना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है एवं जिस दलदल से निकलना दुष्कर होकर भी आवश्यक है, तो फिर अधिक समझदारी तो इसी में है कि उसमें फँसना ही क्यों चाहिये। बस मैं तो अब चलूँ और माता-पिता से आज्ञा ले, आकर इन गुरुदेव के चरणों की सेवा में ही अपने आपको लगा दूं, ऐसा सोचकर जम्बुकुमार घर पर गया ही था कि माता-पिता ने पूछा कि इतनी देर तक कहाँ रहे ? जम्बुकुमार बोला कि "एक साधु महात्मा के पास बैठ गया था और मैं अब सदा के लिए उन्हीं के पास रहना चाहता हूं।" माता-पिता यह सुनकर अवाक् हो रहे। कुछ देर सोचकर फिर बोले कि - "बेटा तू यह क्या कह रहा है ? देखो हम तो तेरी शादी की तैयारियाँ कर रहे हैं और तू ऐसी बात सुना रहा है जिससे कि हमारा कलेजा काँप उठता है, कम से कम तुझे शादी तो कर लेनी चाहिये। तू खुद समझदार है, तुझे हमारी इस प्रसन्नता में तो गड़बड़ी नहीं मचानी चाहिये।"

## (८) सकामता के साथ निष्कामता का संघर्ष

माता-पिता ने सोचा इसे छोटी-सी बात कहकर मनवा लेना चाहिये, फिर तो यह खुद ही अपने दिल में आई हुई बात को भूल जावेगा। बस यही सोचकर उन्होंने कहा था कि विवाह तो कर लो। इस पर जम्बू ने विचार किया कि ये माता-पिता हैं। इनका इस मेरे शरीर पर अधिकार है अतः इस साधारण-सी बात के लिये नाराज करना ठीक नहीं है। वैरागी का अर्थ किसी को नाराज करना या किसी पर नाराज होना नहीं है। वह तो स्वयं आत्मावत् सभी को समझा करता है। उसकी निगाहों में तो जितनी अपने आप की कीमत होती है उतनी ही दूसरे की भी। फिर ये तो मेरे इस जन्म के माता-पिता हैं, इनका तो इस शरीर की ओर निगाह करते हुए बहुत ऊंचा स्थान है। फिर कहा कि - "ठीक है, आप कहते हैं तो मैं विवाह कर लूँगा किन्तु दूसरे ही रोज गुरु-चरणों में जा प्राप्त होऊंगा। जिन आठ लड़कियों के साथ जम्बू का विवाह होना निश्चित हुआ था उन्हें भी सावधान कर दिया गया। उन सब ने जवाब दिया हम तो प्रतिज्ञा कर चुकी हैं कि इस जन्म में तो हमारे ये ही पति हैं, इनके अतिरिक्त और सब नर तो हमारे बाप, भाई समान हैं अतः बेखटके शादी रचा दी जावे, फिर या तो हम उन्हें लुभा लेंगी या हम सब भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर लेंगी। विवाह हो गया और सुना जाता है कि उसमें इन्हें ९९ करोड़ के सोने का दहेज मिला। परन्तु जहां वैराग्य है वहां चक्रवर्ती की सम्पदा भी तिनके के समान निस्सार है, वह उसकी नहीं, अगर है भी तो दुनियां की है। अस्तु, रात हुयी और रंगमहल में जहां कि विषयानुराग वर्द्धक सभी तरह का परिकर सम्भव से भी अधिक संख्या में

जुटाया गया था वहां एक तरफ तो दिल से समता को सँभाले हुए स्वयं जम्बूकुमार विराज रहे थे,उधर दूसरी तरफ उनकी नव विवाहिता आठों पत्नियां वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर ममता की मोहक महक लिए हुए आकर खड़ी थीं। जो कि अपना रंग उन पर जमाना चाह रही थीं, परन्तु वहां उनके चित पर तो साधु सुधर्माचार्य की चरण सेवा का अमिट रंग लगा हुआ था वहां दूसरा रंग कैसे चढ़ सकता था ?

इधर एक और घटना घटी। एक प्रभव नाम का प्रख्यात चोर था, जो कि पाँच सौ चोरों का सरदार था, उसने सुना कि जम्बू को दहेज में खूब धन मिला है, चलो आज उसी पर हाथ साफ किया जावे। इस चोर की यह विशेषता थी कि जहां भी वह जाता था वहाँ के लोगों को नींद लिवा देता था और अपना काम बड़ी आसानी से कर लिया करता था। वह आया और धन की गठरियाँ बांध कर चलने को तैयार हुआ तो उसके पैर चिपक गये और चोर आश्चर्य में पड़ा और इधर-उधर देखने लगा तो बगल के कमरे में औरत मर्द आपस में बात कर रहे थे। चोरों की फिक्र छोड़ कर प्रभव वहां पहुँचा और जम्बू को उसने जुहार किया। जम्बूकुमार बोले कौन है ? प्रभव। तुम आज यहां इस समय कैसे आये ? प्रभव ने कहा प्रभो अपराध क्षमा कीजिये, मैं चोरी करने के लिए आया था। आज तक मैं मेरे काम में कहीं भी असफल नहीं हुआ किन्तु आज आपने मुझे हरा दिया। आपके पास ऐसा कौन सा मन्त्र है कि जिससे धन लेकर जाते हुए मेरे पैर चिपक गये। जम्बूकुमार बोले प्रभव ! मुझे तो पता ही नहीं कि तुम कब आये और क्या कर रहे थे, मैं तो सिर्फ गुरुचरणों की सेवा का मन्त्र जपता हूँ और अपने मन में उसी के टेर लिए हुए हूँ प्रभात होते ही मैं उनके पास में जाकर निग्रन्थव्रत ग्रहण करने वाला हूँ। तब फिर इस सारी सम्पत्ति को तुम ले जाना। मैं स्वेच्छा से इसका अधिकारी तुम्हें बनाता हूँ, फिर इसमें चोरी करने की बात कौन-सी है ? ऐसा सुनकर प्रभव बहुत प्रभावित हुआ, उसने मन में सोचा कि-यह भी तो पुरुष ही है जो प्राप्त हुई सम्पत्ति (लक्ष्मी) को इस तरह से ठुकरा रहा है ! और कहने के लिए तो मैं भी पुरुष ही हूँ जो कि एक पागल की तरह इसके पीछे फिर रहा हूँ फिर भी यह मुझे प्राप्त नहीं होती, तथा हो भी जाती है तो ठहरती नहीं है।

## (९) लक्ष्मी का पति

सुना जाता है कि एक बार लक्ष्मी का स्वयंवर हो रहा था। उसमें सभी लोग अपनी शान और शौकत के साथ आ सम्मिलित हुए थे। जब स्वयम्वर का समय हुआ तो लक्ष्मी आयी और बोली कि मैं उसी पुरुष को वरूँगी जो कि स्वप्न में भी मेरी इच्छा न



रखता हो। इस पर सब लोग बड़े निराश और हतप्रभ हो रहे। लक्ष्मी चलती २ अन्त में वहाँ पर आयी जहाँ पर शेष नाग की शैय्या पर विष्णु महाराज बेफिकर सोये हुए थे। आकर उसने उनके गले में वरमाला डाल दी। विष्णु बोले कौन है ? तो जवाब मिला कि लक्ष्मी हूँ। फिर कहा गया कि चली जाओ यहाँ से, तुम क्यों आयी हो, यहाँ पर मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं है। लक्ष्मी बोली -- प्रभो ! मुझे मत ठुकराइये मैं सिर्फ आपकी पगचम्पी करती रहूँगी। बन्धुओ ! यह सब अलंकारिक कथन है, इसका मतलब तो इतना ही है कि जो विपत्ति से डरता है और सम्पत्ति चाहता है उससे सम्पत्ति स्वयं दूर हो जाती है। परन्तु जो सम्पत्ति को याद भी नहीं करता एवं विपत्ति आ पड़ने पर उससे घबराता नहीं है, उस पुरुष के चरणों को सम्पत्ति स्वयं चूमती है। प्रभव को भी इससे आज प्रतिबोध प्राप्त हुआ, वह विचारने लगा कि जब ऐसी बात है तो फिर मैं भी इस बोझे को अपने सिर पर लादे क्यों फिरूँ ? बल्कि जिस मार्ग को यह सेठ का लड़का अपना रहा है, उसी पथ का पथिक मैं भी क्यों न बन रहूँ ? जिसमें सब का हित हो ऐसा सोच कर वह जम्बूकुमार के चरणों में गिर पड़ा और बोला कि प्रभो ! अब मुझे इसकी भूख नहीं रही, आपके वचनामृत से ही मैं तृप्त हो गया हूँ, अतः अब मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि मुझे भी आप अपने चरणों में ही जगह दें, न कि मुझे अब भी इस कीचड़ में ही फँसा रहने दें। इससे हमें यह सीख लेनी चाहिये कि एक साधुसेवी के संसर्ग में आकर भी जब प्रभव सरीखा दुरहंकारी जीव सहसा निरहंकार हो जाता है, दानव से मानव बन जाता है, तो फिर साक्षात् साधु समागम की महिमा का तो कहना ही क्या ? उसके तो गीत, वेद और पुराणों में जगह २ पर गाये हुए हैं। अतः अपने आपको सुधारने के लिए साधु संगति करनी ही चाहिए, जिससे कि मनुष्य का मन धैर्य क्षमादि गुणों को पाकर बलवान बने।

## (१०) मनोबल ही प्रधान बल है

वैसे तो मनुष्य के पास में ज्ञानबल, धनबल, सेनाबल, अधिकार बल और तपोबल आदि अनेक तरह के बल होते हैं, जिनके सहयोग से मनुष्य अपने कर्त्तव्य कार्य से इस पार से उस पार पहुँच पाता है, परन्तु उन सब बलों में शरीरबल, वचनबल और मनोबल ये तीनों बल उल्लेखनीय बल हैं। मनुष्य को अपने सभी तरह के कार्य सम्पादन करने के लिये उसे शारीरिक बल तो अनिवार्य है। जितना भी हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ होगा वह उतना ही प्रत्येक कार्य को सुन्दरता के साथ सम्पादित कर सकेगा, यह एक साधारण नियम है। अतः उसको प्रगतिशील बनाये रखने के लिये समुचित आहार की जरूरत समझी जाया करती है और उसकी चिन्ता सभी को रहा करती है एवं अपनी बुद्धि, विवेक तथा

है परन्तु विचारों का गुब्बार हमारे इस पोले मन में भरा हुआ है उसे निकाल बाहर किये बिना मन की एकाग्रता हो कैसे ! प्रथम तो इसके पास, मैं यह खा लूँ, यह पी लूँ, फिर टहल लूँ और सो लूँ इत्यादि इतने विचार उपग्रहीत हैं कि उनका दूर करना सरल बात नहीं है। और अगर कहीं प्रयास करके इन ऊपरी विचारों को दूर कर भी दिया तो यह तो मकड़े की भाँति प्रतिक्षण नये विचारों को जन्म देता ही रहता है। सो उन भीतरी विचारों पर रोक लग जाने का तो कोई भी उपाय नहीं दीख पड़ता है। बल्कि जहाँ ऊपरी विचार चक्र को दूर करने के लिए प्रयत्न करो तो भीतरी विचार परम्परा बड़े वेग के साथ उमड़ पड़ती है। ऐसी दशा में मन को यदि शान्त, एकाग्र किया जाय तो कैसे ? बात यह है कि इस बाह्य अपार संसार-चक्र को हम अपनी मनोभावना के द्वारा अपने पीछे लगाये हुये ही रहते हैं। दिव्य ज्ञान-शक्ति को परमात्मा परमेश्वर के साथ तन्मय होकर रखने के बदले हम उसको दुनियाँ की क्षुद्र बातों में ही व्यर्थ खर्च करते रहते हैं। आज यह रोटी मोटी हो गई और एक जगह से जल भी गई ; यह साग भी अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा इत्यादि जरा-जरा सी बातों की चर्चा में ही हम रस लेते हैं और अपने ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं। एवं मन की दौड़ निरन्तर बाहर ही होते रहने से यह निरंकुश बन गया है। अगर किसी के कहने सुनने से भगवान का भजन भी किया तो सिर्फ दिखाऊ। ऐसी दशा में यहाँ आसन जमा कर बैठना और आँखें मूँदना आदि सब व्यर्थ है। जैसा कि कहा है:-

दर्भासन पर बैठ कर माला ली कर माहिं।
मन डोले बाजार में यह तो सुमिरण नाँहि।।

प्रायः लोगों का यही हाल है। कथा सुनने बैठे तो नींद सताती है और बिस्तर पर जाकर लेटते हैं तो चिन्ता आ घेरती है। यह कर लिया तो यह बाकी है और यह उजड़ रहा है इत्यादि विचार उठ खड़े होते हैं। नींद आ जाने पर भी स्वप्न में भी वे ही सब बातें याद आती रहती हैं। क्योंकि हम इन्द्रियों की वासनाओं के गुलाम बने बैठे हैं तो एकाग्रता कहाँ ? एकाग्रता के लिये तो जीवन में परिमितता आनी चाहिये। हमारा सारा कार्यक्रम नपा, तुला समुचित होना चाहिये। औषधि जैसे नाप तौल कर ली जाती है वैसे ही हमारा खाना और सोना आदि सभी बातें नपी तुली होनी चाहिये। प्रत्येक इन्द्रिय पर नियन्त्रण होना चाहिये। एक महाशय बोले कि मैं जहाँ जाता हूँ वहाँ उस कमरे की तमाम चीजों को देख सकता हूँ। मैंने कहा भगवन् मनुष्य ऐसा क्यों करें, क्या वह किसी का पहरेदार है या चोर, ताकि उसे ऐसा करना चाहिये ? यह तो अपनी आँखों का दुरुपयोग करना है। मनुष्य की आँखें तो इसलिये हैं कि वह अपना आवश्यकीय कार्य देख-भाल कर सावधानी से करे। यही हिसाब कानों के लिए भी होना चाहिये, यदि श्री सद्गुरु का आदेश उपदेश हो



तो उसे मनुष्य ध्यान पूर्वक सुने और याद रखे किन्तु किसी की भी निन्दा को सुनने के लिए कभी भी तैयार न हो। मिट्टी के तेल की बदबू से नाक नहीं सड़ सकती परन्तु मनुष्य के दुश्चरित की बदबू फैल जाने से उसका खुद का जीवन बर्बाद हो जायेगा और धरातल को भी गन्दा बनाने में अग्रसर होगा। अतः बुरी बातों से हमें सदा बचते रहना चाहिये। मद्य मांस सरीखी सदोष चीजों की तो कभी याद भी नहीं करना चाहिये किन्तु निर्दोष वस्तुओं को भी आवश्यकता से अधिक प्रयोग में लाने से परहेज होना चाहिये। इस प्रकार अपने इन इन्द्रियरूपी घोड़ों को बे-लगाम न दौड़ने देकर इनके लगाम रखना ही मनोनिग्रह का मूल मन्त्र है जो कि सन्त महन्तों की संगति से प्राप्त हो सकता है। अतः सत्संगी बनना ही मनुष्य का आद्य कर्त्तव्य माना गया है। हाँ, एक बालक के पास से भी इसी विषय का सबक सीखा जा सकता है। आप किसी भी बच्चे को लीजिये वह जिस चीज की तरफ देखता है, टकटकी लगा कर देखता है। अगर उधर ही आप भी देखते हैं तो आपकी आँखों की पल्कें दस बार झपकें किन्तु उसकी एक बार भी नहीं ! क्योंकि बच्चे के सम्मुख जो चीज आती है तो वह उसी को अपने उपयोग में पकड़ना चाहता है कि यह क्या है और कैसी है ? और किसी बात की उसे चिन्ता नहीं होती। बस इसीलिये वह उसे गौर से देखता है ताकि उसके दिल पर उसका प्रभाव पड़े, जो कि घर कर लेता है, फिर अनेक प्रयत्न करने पर भी उसका दूर हटाना कठिन हो जाता है; इसी का नाम संस्कार है। लड़के को शुरू के दो चार सालों में जो शिक्षा मिलती है जिसे कि वह अपनी स्वाभाविक सरलता से ग्रहण करता है, बाद में वैसी सुदृढ़ होकर रहनेवाली शिक्षा अनेक वर्षों में भी उसे नहीं दी जा सकती। बाद की शिक्षा सब कृत्रिमपने को लिए हुए होती है। और इसलिये आप लोगों को चाहिये कि आप अपने बच्चों के आगे कभी भूलकर भी बुरी चेष्टा और बुरी बात न करें क्योंकि बच्चे का दिल एक प्रकार का कैमरा होता है जो कि आपकी की हुई चेष्टाओं के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है।

बच्चे के मन में विश्वास भी नैसर्गिक होता है। उसकी माँ उसे जो भी कहे वही उसके लिये प्रमाण है। जो कुछ कहानियाँ जिस रूप में उसे कही जाती हैं वे सब उसे अक्षरशः सच मालूम होती हैं। वह तो अपनी माता को ही अपना हित करने वाली मान कर उसके कहने में चलना जानता है, अपनी माता पर उसकी अटल श्रद्धा रहती है। वह उसे जैसा कहे वैसा करना जानता है और कुछ भी नहीं, बस इसीलिये उसके चित्त में व्यग्रता न होकर एकाग्रता अधिक होती है।

## ( १२ ) बाल जीवन की विशेषता

एक नवजात बालक भी अपने जीवन में खाना पीना सो जाना आदि अपनी अवस्थोचित बात तो करता ही है परन्तु वह अपने सरल भाव से जो करता है और जब तक करता है फिर उसे छोड़ दूसरी बात करने लगता हो तो उसी में संलग्न हो जाता है। उसे उस समय फिर पहले वाली बात के बारे में कुछ भी चिन्ता नहीं रहा करती। जब भूख लगी कि माता के स्तनों को पकड़कर खुशी से चूसने लगता है, किन्तु जहाँ पेट भरा कि उन्हें छोड़कर खेलने लगता है या सो जाता है, फिर भूख लगी कि उठकर दूध पीने लगता है एवं पेट भरा कि फिर मस्त। उसे इस बात की भी चिन्ता नहीं कि यहाँ पर क्या हो रहा है और आगे क्या होने वाला है। वह तो सिर्फ दो ही बातें जानता है खुद करना एवं बुजुर्ग लोगों का अनुकरण करना। अतः चोरी, जारी, झूठ, पाखण्ड आदि बुरी बातों से प्राकृतिक रूप में वह परे रहता है। आप किसी बच्चे से पूछिये कि आज क्या खाया था, तो वह जैसा खाया है कहता है कि सिर्फ मट्ठे के साथ में रूखी जुवार की रोटी खाई थी। क्योंकि वह इस बात से परे है कि उसे ऐसा कहने से मेरे कुटुम्ब वालों की बेइज्जती होवेगी। वह तो अपने सरल भाव से जैसा कुछ खाया है सो बतायेगा, फिर उसकी अम्मा भले ही इस बात की मरम्मत करती हो कि क्या करूँ, बच्चे को पेचिश हो रही है इसलिये मुझे भी यही खानी पड़ी और इसे भी यही खिलाई। अस्तु, बच्चा उर्पयुक्त रूप से सरल और स्पष्ट बातें करता है इसीलिये उसकी बोली सबको मीठी लगती है। जो भी सुनता है उसका चित्त बड़ा ही प्रसन्न हो उठता है। अगर उसका हिसाब सदा के लिये ऐसा ही बना रहे तो यह मनुष्यता का सौभाग्य समझना चाहिये। किन्तु वह जब अपने जीवन क्षेत्र में आगे बढ़ता है और अपने माता-पिता आदि को या अड़ोसी-पड़ोसी को नाना प्रकार की बहानेबाजी की चालाकी भरी बातें करते हुए देखता है तो अनुकरणशीलता के कारण आप भी वैसा ही या उनसे भी कहीं अधिक चालाक हो लेता है। भारतमाता की गोद में पला हुआ होने के नाते से समाज का स्वयं सेवक होकर रहने के बदले, इन्द्रियों का दास बनकर जनता के जीवन पथ में कण्टक स्थानीय प्रमाणित होता है, औरों को घोर कष्ट पहुँचाकर भी अपने स्वार्थ की पूर्ति करने में ही तत्पर रहना, हर एक के साथ पेचीदा बातें करके केवल अपना मतलब गाँठना, दूसरे के हक को हड़प करने में कुछ भी संकोच न करना, अश्लील भद्दी चेष्टाएँ कर के अपने आपको धन्य समझना और गुरुजनों की बातों को भी ठुकरा कर अपना उल्लू सीधा करना, किसी को भी अपनी चालाकी के आगे कुछ भी नहीं समझना इत्यादि रूप से एकान्त कठोरता को अपना कर प्रत्युत मानवता के बदले दानवता को स्वीकार कर बैठता है। हाँ, यदि उसको शुरू से ही तुली हुई प्रमाणित बात करने वाले



महापुरुषों का संसर्ग प्राप्त होता रहे तो बहुत कुछ संभव है कि उर्पयुक्त बुराइयों से सर्वथा अछूता रहकर दया क्षमाशील सन्तोषादि सद्गुणों का भण्डार बनते हुए वही बालक से पुरुषोत्तम भी बन सकता है।

## ( १३ ) दया की महत्ता

किसी भी प्राणी का कोई भी तरह का कुछ भी बिगाड़ न होने पावे, सब लोग कुशलतापूर्वक अपना २ जीवन व्यतीत करें ऐसी रीति का नाम दया है। दयावान का दिल विशाल होता है, उसके मन में सबके लिये जगह होती है। वह किसी को भी वस्तुतः छोटा या बड़ा नहीं मानता, अपने पराये का भेदभाव उसके दिल से दूर रहता है। वह सब आत्माओं को समान समझता है। तभी तो वह दूसरे का दुःख दूर करने के लिए अपने आपका बलिदान करने में भी नहीं हिचकिचाता है। एक बार की बात है कि हाईकोर्ट के एक जज साहब अपनी मोटर में सवार होकर कचहरी का जा रहे थे। रास्ते में जाते हुए देखते हैं तो कीचड़ में एक सूअर फँसा हुआ है जो कि निकलने के लिये छटपटा रहा है। जज साहिब ने अपनी मोटर रुकवाई और खुद अपने हाथों से उस सूअर को निकाल कर बाहर किया। सूअर ने अपने अंग फड़फड़ाये जिससे जज साहिब के कपड़े गन्दले हो गये। कचहरी को देर हो रही थी। अतः उन्हीं कपड़ों का पहने हुए मोटर में बैठ कर फिर कचहरी को रवाना हो लिए। लोगों ने जब जज साहब का यह हाल देखा तो लोग आश्चर्य में डूब गये कि आज उनका ऐसा ढंग क्यों है? ड्राइवर ने बीती हुई बात बताई तो सब लोग वाह-वाह कहने लगे। जज साहिब बोले कि इसमें मैंने बड़ी बात कौन सी की है। मैंने सूअर का दुःख दूर नहीं किया बल्कि मैंने तो मेरा ही दुःख दूर किया है। मुझसे उसका यह दृश्य देखा नहीं गया तब मैं फिर और क्या करता?

ठीक ही है किसी को भी कष्ट में पड़ा देखकर दयालु पुरुष का दिल द्रवित हो उठता है इसमें सन्देह नहीं है। वह अमरता का वरदाता होता है। जो कि अज्ञानी और असमर्थ बालकों को मातृभाव से उनके हित की बात कहते हैं, वे जो कुछ भूल कर रहे हों उसे हृदयग्राही मधुर शब्दों में उन्हें समझाकर उत्पथ में न जाने देते हुए प्रेम-पूर्वक सही रास्ते पर लाने की चेष्टा करता है। ऐसा करने में कोई व्यक्ति अपनी आदत के वश होकर आभार न मानते हुए प्रत्युत उसके साथ में विरोध दिखलाते हुए उसकी किसी प्रकार की हानि भी करता है तो दयालु पुरुष उसे भी सहन करता है परन्तु उसे मार्ग पर लाने की ही सोचता है।

सुनते हैं कि इग्लैंड में होमरलेन नाम का एक विद्वान् था। वह जब भी किसी

असहाय, दुःखी पुरुष को देखता था तो उसका दिल पिघल जाया करता था। कोई बालक किसी भी प्रकार की बुरी आदत में पड़ रहा हो तो उसे देखकर वह विचारने लगता कि इसकी तो सारी जिन्दगी ही बरबाद हो जायेगी। किसी भी तरह से उसकी यह कुटेव दूर होकर इसका भविष्य उज्वल होना चाहिये। बस इस विचार के वश होकर उसने एक रिपब्लिकन नाम का आश्रम खोला, जिसमें बुरी आदतों वाले बालक लाना और धीरे २ उनके जीवन को सुधारना ही उसका उद्देश्य था। एक दिन कोर्ट में एक ऐसा बालक पकड़ा गया जो कई बार चोरी कर चुका था। होमरलेन को जब पता लगा तो वह उसे वहाँ से अपने पास आश्रम में ले आया परन्तु उसने तो आते ही ऊधम मचाना शुरू कर दिया। वहाँ के लड़कों से लड़ने लगा और उनकी पुस्तकें फाड़ने लगा तो वहाँ के प्रबन्धक लोग घबराये और होमरलेन से बोले कि साहब यह लड़का तो नटखट है, सारे बालकों को ही बिगाड़ देगा अतः इसे तो यहाँ रखना ठीक नहीं है। होमरलेन बोला - भाई मुझे इस पर दया आती है, अगर यह यहाँ आकर भी नहीं सुधरा तो फिर कहाँ सुधरेगा ? इसका तो फिर सारा जीवन ही बरबाद हो जायेगा। खैर, इसे तुम यहाँ नहीं रखते हो तो मुझे दो, मैं इसे अपने पास रखूँगा। ऐसा कहकर जब उसे वह घर लाया तो वहाँ पर भी उसका तो वही हाल। उनके कमरे की बहुमूल्य चीजों को भी वह तो वैसे ही तोड़ने लगा। फिर भी होमरलेन ने बिलकुल मन मैला नहीं किया, बल्कि हँसते हुये बोला, कि बेटा यह घड़ी और बची है इसे भी तोड़ डालो। बस यह सुनते ही उस लड़के के दिल में एकाएक परिवर्तन आ गया। वह सोचने लगा कि देखो मैंने इनका कितना नुकसान कर दिया, फिर भी मेरे प्रति इनके मन में कुछ भी मलाल नहीं आया, देखो ये कितने गम्भीर हृदयी हैं और मैं कितना तूफानी ! ये भी आदमी हैं तथा कहने के लिए तो मैं भी एक आदमी ही हूँ, मुझे कुछ तो सोचना चाहिये। ऐसा विचार अपने मन में करते हुए वह लड़का होमरलेन के पैरों में पड़ गया और अपने अपराध की क्षमा याचना करने लगा। बोला कि बस मैं अब आगे किसी भी प्रकार की बदमाशी नहीं करूँगा। होमरलेन बड़ा खुश हुआ और कहने लगा कि कोई बात नहीं, बल्कि मुझे तो इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि अब तुम समझ गये हो।

मतलब यही है कि जिसका दिल दया से भीगा हुआ होता है वह किसी से भी मुँह मोड़ना नहीं जानता। वह तो अपना सब कुछ खोकर भी दुखिया के दुःख को दूर करना चाहता है। क्योंकि उसका प्राणी मात्र के प्रति सहज स्वाभाविक प्रेम होता है, अतः वह तो सबको गुणवान देखना चाहता है एवं किसी भी गुणवान को जब वह देखता है तो उसका दिल प्रसन्नता से उमड़ उठता है, जैसा कि तत्वार्थसूत्र में कहा गया है - 'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु।



# (१४) जहाँ दया है वहाँ कोई दुर्गुण नहीं

जिन बातों के होने से प्राणी, प्रजा का विप्लवकारी साबित हो ऐसी हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, असन्तोष आदि को दुर्गुण समझना चाहिये। जहाँ दया होती है वहाँ पर इन दुर्गुणों का लेश मात भी नहीं होता परन्तु जहाँ इन में से कोई एक भी हो वहाँ पर फिर दया नहीं रह सकती।

हमारे यहाँ एक कथा आती है कि एक राजा था उसके दो लड़के थे। तो राजा के मरने पर बड़े लड़के को राजा और छोटे को युवराज बनाया गया। दोनों का समय परस्पर बड़े प्रेम से कटने लगा। परन्तु संयोगवश ऐसा हुआ कि एक रोज राजा ने युवराज्ञी को नजर भर देख लिया। युवराज्ञी युवती थी और बड़ी सुन्दर थी। अतः उसे देखते ही राजा का विचार बदल गया। वह उसके साथ अपनी बुरी वासना को पूरी करने की सोचने लगा। अतः उसने युवराज को तो किसी सीमान्त दुष्ट राजा पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया और युवराज्ञी को फुसलाने के लिए उसने अपनी दूती द्वारा पारितोषक भेजा किन्तु वह राजी न हुयी। राजा ने सोचा भाई को मार दिया जाए, फिर तो वह लाचार होकर अपने आप मेरा कहना करेगी। वसन्तोत्सव का षडयन्त्र रचाया, सब लोग अपनी २ पत्नियों को लेकर वन-बिहार को गये। युवराज भी युवराज्ञी के साथ अपने बगीचे में पहुँच गया और सोचा कि आज की रात यहाँ ही आराम से काटी जाये। उसे क्या पता था कि रंग में भंग होने वाला है। राजा के मनचाही बात हुई, अतः वह घोड़े पर चढ़ कर युवराज के विश्राम स्थान की ओर रवाना हुआ। पहरा लग रहा था, पहरेदारों ने राजा को आगे बढ़ने से रोक कर युवराज को सूचना दी कि महाराज आपके पास आना चाहते हैं। युवराज बोले, आने दो। युवराज्ञी समझ गई और बोली प्रभो ! आप क्या कर रहे हैं ? होशियार रहिये, आपके भाई साहब का विचार मुझे आपके प्रति ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है। युवराज ने उसके कहने पर भी ध्यान नहीं दिया। राजा साहब आये और उचित स्थान पर युवराज के पास बैठ गये। युवराज बोला भाई साहब ! आज इस समय कैसे आना हो गया, ऐसा क्या काम आ पड़ा ? आपने आने का कष्ट क्यों किया, मुझे सूचित कर देते तो मैं ही आपके पास आ सकता था। राजा बोला - बताऊंगा, परन्तु मुझे बड़ी जोर से प्यास लग रही है अतः पहले पानी पिलाओ। युवराज को क्या पता था कि इनके अन्तरंग में क्या है ? वह तो एकान्त भ्रातृ-स्नेह को लिए हुए था अतः बड़े भाई का पानी पिलाने के लिये गिलास उठाने को लपका कि पीछे से राजा ने उसकी गरदन पर कटार मार दिया, और उन्हीं पैरों उलटा लौट चला। सिपाहियों ने हल्ला मचाकर उसे पकड़ना चाहा, मगर युवराज्ञी ने सोचा कि स्वामी मरणासन्न हैं अगर हम लोग इसी धर पकड़ में लगे रहे तो

सम्भव है कि स्वामी का अन्त समय बिगड़ जाये अतः उसने सिपाहियों को ऐसा करने से रोका और अपने दिल को कड़ा करके समयोचित अन्तिम सन्देश -"हे स्वामिन् इस संसार में अनादिकाल से जन्म-मरण करते रहने वाले इस शरीरधारी की अपनी भूल ही इसका शत्रु है और स्वयं सँभल कर चलना ही इसका मित्र है, बाकी ये सब दुनियाँ के लोग तो परिस्थिति के वश में होकर जो आज शत्रु हैं वे ही कल मित्र, और मित्र से फिर शत्रु होते दिखाई देते हैं। जो भाई साहब आपके लिए जान तक देने को हर समय ही तैयार रहते थे वे ही आज आपकी जान के ग्राहक बन गये, ऐसा होने में यदि विचार कर देखा जावे तो प्रधान निमित्त मैं ही हूँ, मेरे ही रूप के पीछे पागल होकर उन्होंने ऐसा किया है, अतः एक तरह से देखा जावे तो मैं ही आपकी शत्रु हूँ, जिसको कि आप अपनी समझ रहे हैं। वस्तुतः कोई किसी का शत्रु नहीं है न कोई अपना है न कोई पराया। सब लोग अपने-अपने कर्मों के प्रेरे हुए यहाँ से वहां चक्कर काट रहे हैं। कोई किसी का साथ देने वाला नहीं है, औरों की तो बात ही क्या, इस मनुष्य का शरीर भी यहाँ का यहीं रह जाता है जबकि वह परलोकगमन की सोचता है। हाँ, उस समय यदि भगवान् का स्मरण करता है तो वह स्मरण अवश्य उसके साथ रहता है एवं गड्ढे में गिरने से बचाता है। अतः आप तो क्या अच्छे और क्या बुरे सभी प्रकार के संकल्पों को त्याग कर परमात्मा के स्मरण में मन को लगाइये और इस नश्वर शरीर का प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर जाइये। जैसे कि सर्प कांचली को छोड़ जाता है, इस प्रकार कह कर अन्तिम श्वास तक नमस्कार मन्त्र उसे सुनाती रही उसने भी भगवान् के चरणों में मन लगाकर इस पामर शरीर का परित्याग किया, एवं वह दिव्य देहधारी देव बन और उसी युवराज के रूप में पानी लेकर राजा के पास आया तथा बोला कि लो पानी पी लो - चले क्यों आये, तुम तो प्यासे थे? परन्तु वस्तुतः तुम पानी के प्यासे न होकर जिस बात के प्यासे हो वह तुम्हारी प्यास, जो मार्ग तुमने अपना रखा है उससे नहीं मिट सकती, देखों तुमने मेरे कटार मार दी थी, वह भी उस सती के सन्देश मन्त्र से ठीक हो गयी है। जिस महासती को लक्ष्य कर तुम बुरी वासना के शिकार बन रहे हो। अतः अब तुमको चाहिये कि तुम सन्तोष धारण करो, उस सती के चरण छुओ, एवं भगवान का नाम जपो, बस इसी में तुम्हारा कल्याण है। इस पर होश में आकर राजा ने भी अपने दुष्कृत्य का पश्चाताप करके ठीक मार्ग स्वीकार किया।

मतलब यह है कि, दया के द्वारा ही मनुष्य माननीय बनता है। दया ही परम धर्म है जिसको अपनाकर वह शरीरधारी ऊपर को उठता है। परन्तु जो कोई भी दया को भूल जाता है या अहंकार के वश में होकर उसकी अवहेलना करता है वह जीव इस दुनियाँ में घृणा का पात्र बन जाता है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं -



दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण।।

## (१५) दया का सहयोगी विवेक

हाँ यह बात भी याद रखने योग्य है कि दया के साथ में भी विवेक का पुट अवश्य चाहिये। दया होगी और विवेक न होगा प्रत्युत उसके ही स्थान पर मोह होगा तो वह उस विश्व सञ्जीवनी दया को भी संहारकारिणी बना डालेगा। मान लीजिये कि आपके बच्चे को कफ, खाँसी का रोग हो गया, आप उसको आराम कराना चाहते हैं और वैद्य के पास से दवा भी दिला रहे हैं, मगर बच्चे को दही खाने का अभ्यास है, वह दही माँगता है, नहीं देते हैं तो रोता है, छटपटाता है, मानता नहीं है, तो आप उसे दही खाने को दे देंगे? अपितु नहीं देंगे, क्योंकि दही खिला देने से उसका रोग बढ़ेगा यह आप जानते ही हैं। फिर भी आपको उस बच्चे के प्रति कहीं मोह हो गया तो सम्भव है कि आप उसे दही खाने को दे देवें तो यह आपकी दया के बदले उस बच्चे के प्रति दुर्दया ही कही जायेगी, जो कि उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली ही होगी।

रावण को मार कर श्री रामचन्द्रजी महाराज जब सीता महाराणी को वापिस लाये और घर में उसे रखने लगे, तो लोगों ने इस पर आपत्ति की। श्री रामचन्द्रजी यह जानते अवश्य थे कि सीता निर्दोष है इसमें कोई भी शक नहीं, फिर भी वनवास का आदेश दिया ताकि वन के अनेक संकट सहकर भी अन्त में उसे परीक्षोत्तीर्ण होना ही पड़ा। अगर श्री रामचन्द्रजी महाराज ऐसा न करते तो क्या आम लोगों के दिल में सीता महाराणी के लिए यह स्थान हो सकता था? श्री रामचन्द्रजी की गौरव कथा जिस महत्व से आज गायी जा रही है वह कभी भी सम्भव थी? कि एक साधारण आदमी की आवाज पर श्री रामचन्द्रजी ने अपने प्राणों से प्यारी सीता का परित्याग कर दिया, ओह कितना ऊंचा स्वार्थ-त्याग है परन्तु बात वहाँ ऐसी थी, श्री रामचन्द्रजी महापुरुष थे, उनकी निगाह में सभी प्राणी अपने समान थे। बस इसीलिए तो सब लोग आज भी उन्हें याद करते हैं।

## (१६) अभिमान का दुष्परिणाम

कुछ भी न कर सकने वाला होकर भी अपने आपको करने वाला मानना अभिमान है। वस्तुतः मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ होता है वह अपने-अपने कारण कलाप के द्वारा होता है। हाँ, संसार के कितने ही कार्य ऐसे होते हैं जिनमें इन कारणों के ही समान मनुष्य का भी उनमें हाथ होता है एवं जिस कार्य में मनुष्य का हाथ होता है तो वह

उसे अपनी विचार शक्ति के द्वारा प्रजा के लिए हानिकारक न होने देकर लाभप्रद बनाने की सोचता है, बस इसी लिये उसे उसका कर्ता कहा जाता है। फिर भी उस काम का होना, न होना या अन्यथा होना यह उसके वश की बात नहीं है। मान लीजिये कि एक किसान ने खेती का काम किया-जमीन को अच्छी तरह जोता, खाद भी अच्छी लगाई, बीज अच्छी तरह से बोया, सिंचाई ठीक तौर से की, और भी सब भार सम्भाल की और फसल अच्छी तरह पककर तैयार हो गयी। किन्तु एकाएक ओला पड़ा जिस से कि किया कराया सब कुछ बर्बाद। सारी खेती टूट कुचलकर मिट्टी में मिल जाती है। ऐसी हालत में अगर किसान यह कहे कि मैं ही खेती करने वाला हूँ, अन्न को उपजाता हूँ तो यह उसका अभिमान गलत विचार है। इस गलत विचार के पीछे स्वार्थ की बदबू रहती है यानी जब कि मैं खेती करने वाला हूँ तो मैं ही उसका अधिकारी हूँ, भोक्ता हूँ, किसी दूसरे का इस पर क्या अधिकार है ? इस प्रकार का संकीर्ण भाव उसके हृदय में स्थान किये हुए रहता है। इस संकीर्ण भाव के कारण से ही प्रकृति भी उसका साथ देना छोड़कर उसके विरुद्ध ही रहती है, ताकि जी-तोड़ परिश्रम करने पर भी सफलता के बदले में प्रायः असफलता ही उसके हाथ लगा करती है। हाँ, जो निरभिमानी होता है, वह तो मानता है कि यह मेरा कर्त्तव्य है अतः मैं करता हूँ, मुझे करना भी चाहिये,इसका फल किसको कैसा क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता ही नहीं होती। एक समय की बात है कि किसी नगर का राजा घोड़े पर चढ़कर वायु सेवन के लिये रवाना हुआ, नगर के बाहर आया तो एक बूढ़ा माली अपने बगीचे में नूतन पेड़ लगा रहा था। यह देखकर राजा बोला कि बूढ़े तू जो ये पेड़ लगा रहा है सो कब जाकर बड़े होंगे ? क्या तू इनके फल खाने के लिए तब तक बैठा रहेगा ? बूढ़े ने उत्तर दिया कि प्रभो इसमें फल खाने की कौन-सी बात है ? यह तो मेरा कर्त्तव्य है, अतः मैं कर रहा हूँ। मैंने भी तो बुजुर्गों के लगाए हुये पेड़ों के फल खाये हैं, अतः इन मेरे लगाए हुये पेड़ों के फल मेरे से आगे वाले लोग खावें यही प्रकृति की माँग है। इस पर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और पारितोषक रूप में एक मुहर उसे देते हुये धन्यवाद दिया। मतलब यह कि कर्त्तव्यशील निरभिमानी आदमी जो कुछ करता है उसे कर्त्तव्य समझकर विवेकपूर्वक करता है, उसे फल की कुछ चिन्ता नहीं रहती। इसी उदारता को लेकर उसे उसमें सफलता भी आशातीत प्राप्त होती है।

श्रीरामचन्द्रजी को पता लगा कि सीता रावण के घर पर है तो बोले कि चलो उनको लाने के लिए। इस पर सुग्रीव आदि ने कहा कि प्रभो ! रावण कोई साधारण आदमी नहीं है। उससे प्रतिद्वन्दिता करना आग में हाथ डालना है। श्री रामचन्द्रजी ने कहा, कोई बात नहीं। परन्तु सीता को आपत्ति में पड़ी देखकर भी हम चुप बैठे रहें, यह कभी



नहीं हो सकता है। हमें अपना कर्त्तव्य अवश्य पालन करना ही चाहिये। फिर होगा तो वही जो कि प्रकृति को मंजूर है। श्री रामचन्द्रजी की सहज सरलता के द्वारा उनके लिये सभी तरह का प्रक्रम अपने आप अनुकूल होता चला गया। उधर उनके विपक्ष में रावण यद्यपि वस्तुतः बहुत बलवान और शक्तिशाली भी था, परन्तु वह समझता था कि मुझे किसकी क्या परवाह है, मैं अपने भुजबल और बुद्धि कौशल से जैसा चाहूँ वैसा कर सकता हूँ। बस इसी घमण्ड की वजह से उसकी खुद की ही ताकत उसका नाश करने वाली बन गयी। इस बात को पता हमें रामायण पढ़ने से लगता है अतः मानना ही चाहिये कि अभिमान के बराबर और कोई दुर्गुण नहीं है, जिसके पीछे अन्धा होकर यह मनुष्य अपने आपको ही खो बैठता है।

## (१७) परिस्थिति की विषमता

किसी भी देश और प्रान्त में ही नहीं किन्तु प्रत्येक गाँव तथा घर में भी आज तो प्रायः कलह, विसंवाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि का आतंक छाया हुआ पाया जा रहा है। इधर से उधर चारों तरफ बुराइयों का वातावरण ही जोर पकड़ता जा रहा है, इसलिये मनुष्य अपने जीवन के चौराहे पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ खड़ा है। वह किधर जावे और क्या करे ? सभी तरफ से हिंसा की भीषण ज्वालायें आकर इसे भस्म कर देना चाहती हैं। असत्य के खारे पानी से सन कर इसका कलेजा पुराने कपड़े की तरह चीर-चीर होता हुआ दीख रहा है। लूट-खसोट के विचार ने इसके लिए हिलने को भी जगह नहीं छोड़ी है। व्यभिचार की बदबू ने इसके नाक में दम कर रखा है। असन्तोष के जाल में तो यह बुरी तरह जकड़ा हुआ पड़ा है। घर में और बाहर में कहीं भी इसे शान्ति नहीं है। क्योंकि भौतिकता की चकाचौंध में आकर इसने अपना विश्वास गला डाला है। अपनी चपलता के वश में होकर यह किसी के लिये भी विश्वास का पात नहीं रहा है। और न इसे ही कोई एकसा दीखता है जिसके कि भरोसे पर यह धैर्य धारण कर रह सके। साँप से सबको डर लगता है कि वह कहीं किसी को काट न खाये, तो साँप भी हर समय यों भयभीत बना ही रहता है कि कोई मुझे मार न डाले। बस यही हाल आज मनुष्य का मनुष्य के साथ में हो रहा है। एक को दूसरा हड़प जाने वाला प्रतीत होता है। अत एव मनुष्य, मनुष्य के पास जाने में संकोच करता है। हाँ, किसी भी वृक्ष के पास वह खुशी से जा सकता है, क्योंकि उसे उस पर विश्वास है कि वह भूखे को खाने के लिये फल, परिश्रान्त को ठहरने के लिये छाया, शयन करना चाहने वालों को फूल पत्तों की सेज और टेक कर चलने आदि के लिए लकड़ियाँ देगा। वह मनुष्य की भाँति धोखे में डालने वाला नहीं है अपितु सहज रूप से

ही परोपकारी है। बस इसी विचार को लेकर मनुष्य, मनुष्य के पास न जाकर उससे दूर रहना चाहता है। क्योंकि वह सोचता है कि आज मनुष्य दूसरे का बुरा करने का आदी बना हुआ है। उसके पास जाने पर मेरा बिगाड़ के सिवाय सुधार होने वाला नहीं है, मेरी कुछ न कुछ हानि ही होगी अपितु कुछ लाभ होने वाला नहीं है। बस इसीलिये वह उससे दूर भागता है। परन्तु गाड़ी का एक पहिया जिस प्रकार दूसरे पहिये के सहयोग बिना खड़ा नहीं रह सकता उसी प्रकार दुनियाँदारी का मानव भी किसी दूसरे मानव के सहयोग से रहित होकर कैसे जीवित रह सकता है ? अतः मानव को अपना जीवन भी आज दूभर बना हुआ है।

## ( १८ ) स्वार्थपरता सर्वनाश की जड़ है

ऊपर लिखा गया है कि मनुष्य का जीवन एक सहयोगी जीवन है। उसे अपने आपको उपयोगी साबित करने के लिये औरों का साथ अवश्यम्भावी है, जैसे कि धागा धागों के साथ में मिलकर चादर कहलाता है और मूल्यवान बनता है। अकेला धागा किसी गिनती में नहीं आता, वैसे ही मनुष्य भी अन्य मनुष्यों के साथ में अपना सम्बन्ध स्थापित करके शोभावान बनता है। यानी कि अपना व्यक्तित्व सुचारु करने के लिये मनुष्य को सामाजिकता की जरूरत होती है। अतः प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने आपके लिये जितना सुभीता चाह रहा हो उससे भी कहीं अधिक सुभीता औरों के लिये देने और दिलवाने की चेष्टा करे। परन्तु आज हम देख रहे है कि आज के मानव की गति इससे विलक्षण है। वह समाज में रहकर भी समाज की कोई परवाह नहीं करता है, उसे तो सिर्फ अपने आपकी ही चिन्ता रहती है। भूख लगी कि रोटियों की तलाश में दौड़ता है, प्यास लगी तो पानी-पीना चाहता है। जहाँ खाना खाया, पानी-पीया और मस्त। फिर लेट लगाने की सोचता है। क्या वह यह भी सोचता है कि कोई और भी भूखा होगा ? बल्कि आप खा चुका हो और रोटियाँ शेष बच रही हों एवं भूखा भिखारी सम्मुख में खड़ा होकर खाने के लिये मांग रहा हो तो भी उसे न देकर आप ही उन्हें शाम को खा लेने की सोचता है।

कहो भला ऐसे खुदगर्जी का भी कोई ठीक ठिकाना है ? जिसका कि शिकार आज का अधिकांश मानव है। अपनी दो रोटियों में से एक चौथाई रोटी भी किसी को दे दूँ सो तो बहुत ऊंची बात है प्रत्युत वह तो दूसरे के हक की रोटी को भी छीन कर हड़प जाना चाहता है। इसी खुदगर्जी की आग में आज का मानव स्वयं जलकर भस्म होता हुआ देखा जा रहा है।



एक समय की बात है कि एक साधु को मार्ग में गमन करते हुये चार बटोही मिले। साधु ने कहा भाइयो ! इधर मत जाना, क्योंकि इधर थोड़ी दूर आगे जाकर वहाँ पर मौत है। किन्तु उसके कहने पर उन लोगों ने कोई ध्यान नहीं दिया। अपनी धुन में आगे को चल दिये। कुछ दूर जाकर देखा तो अशरफियों का ढेर पड़ा था। उसे देखकर वे बड़े खुश हुए, बोले कि उस साधु के कहने को मान कर हम लोग वहीं रुक जाते तो यह निधान कहाँ पाते! इसीलिये तो हम कहते हैं कि इन साधुओं के कहने में कोई न आवे। खैर ! अपने को चलते चलते कई दिन हो गये हैं, भूख सता रही है, अतः इन में से एक अशरफी ले जाकर एक आदमी इस पास वाले गाँव में से मिठाई ले आवे। उसे खाकर, फिर इन शेष अशरफियों के बराबर चार हिस्से करके एक-एक हिस्सा लेकर प्रसन्नतापूर्वक घर को चलेंगे।

अब जो मिठाई लेने गया उसने सोचा कि मैं तो यहीं पर खालूँ और अब शेष मिठाई में जहर मिला कर ले चलूँ ताकि इसे खाते ही सब मर जावें ताकि सब अशरफियां मेरे ही लिए रह जावें। उधर अन्य लोगों ने विचार किया कि आते ही उसे मार डालना चाहिये ताकि इन धन के तीन हिस्से ही करने पड़ें एवं जब वह आया तो उन तीनों ने उसके माथे पर लट्ठ जमाया, जिससे वह मर गया और उसकी लाई हुई मिठाई को खाकर वे तीनों भी मर गये। अशरफियां वहाँ ही पड़ी रह गईं।

बन्धुओ ! यही हाल आज हम लोगों का हो रहा है। हम बाँट कर खाना नहीं जानते, सिर्फ अपना ही मतलब गाँठना चाहते हैं। और इस खुदगर्जी के पीछे मासर होकर सन्तों, महन्तों की वाणी को भुला बैठते हैं। इसीलिये पद-पद पर आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है।

## ( १९ ) श्रावक की सार्थकता

श्रावक शब्द का सीधा सा अर्थ होता है, सुनने वाला एवं सुनने वाले तो वे सभी प्राणी हैं जिनके कान हैं। अतः ऐसा करने से कोई मतलब नहीं निकलता। हम देखते हैं कि किसी भी पंचायत में या न्यायालय में कोई पुकारने वाला पुकारता है। उसकी पुकार पर ध्यान पूर्वक विचार करके यदि उसका समुचित प्रबन्ध नहीं किया जाता है तो वह कह उठता है कि यहाँ पर किसकी कौन सुनने वाला है ? कितना भी क्यों न पुकारो। मतलब उसका यह नहीं कि वहाँ सभी बहरे हैं, परन्तु सुनकर उसका ठीक उपयोग नहीं, बस इसीलिये कहा जाता है कि सुनने वाला नहीं।

हमारे पूर्वजों ने भी उसी को श्रावक कह पुकारा है जो कि आर्ष वाक्यों को

न्यायालय के नियमों के रूप में अटल मान कर श्रद्धा-पूर्वक स्वीकार किये हो, जिसका हृदय विचारपूर्ण भावना से ओत-प्रोत हो। अतः किसी को भी कोई भी प्रकार की विपत्ति में पड़ा हुआ पाकर उसका वहाँ से उद्धार किये बिना जिसे कभी चैन नहीं हो एवं अपने तन, मन और धन द्वारा सब तरह से समाज सेवा के लिए हर समय तैयार रहने वाला हो।

वह खुद अनीति-पथ में पैर रखे यह तो कभी सम्भव ही नहीं हो सकता, प्रत्युत वह औरों को भी कुमार्ग में जाते हुए देखता है तो आश्चर्य में डूबा रहता है कि यह ऐसा क्यों हो रहा है ? इस प्रकार मधुर और कोमल दिल वाला जो कोई हो जाता है वही श्रावक कहलाता है। भले ही वह परिस्थिति के वश होकर अपना कायिक सम्बन्ध कुछ लोगों के साथ में ही स्थापित किये हुए हो फिर भी अपनी मनोभावना से सब लोगों को ही नहीं अपितु प्राणीमात्र को अपना कुटुम्ब समझता है। अतः किसी का भी कोई बिगाड़ कर देना या हो जाना उसकी निगाह में बहुत बुरी बात होती है। हाँ, सन्मार्ग के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धावान होता है। अतः सन्मार्ग पर चलने वालों पर उसका विशेष अनुराग हुआ करता है एवं वह हर तरह से उनकी उपासना में निरत रहता है। इसलिए वह उपासक भी कहा जाता है।

## (२०) उपासक का प्रशमभाव

जैसा कि महात्माओं के मुँह से उसने सुना है, उसके अनुसार वह मानता है कि आत्मत्व के रूप में सभी जीव समान हैं, सबमें जानपना विद्यमान है। अव्यक्त रूप में सभी परमात्मत्व को लिए हुए हैं, प्रभुत्व शक्तियुक्त है एवं किसी के भी साथ में विरोध, वैमनस्य करना परमात्मा के साथ में विरोध करना कहा जाता है। परमात्मा से विरोध करना सो अपने आपके साथ ही विरोध करना है। अतः किसी के भी साथ में बैर विरोध करने की भावना ही उसके मन में कभी जागृत ही नहीं होती। उसके हृदय में तो सम्पूर्ण प्राणियों की उपयोगिता को समझते हुए प्रेम के लिए स्थान होता है। बल्कि वह तो यह मानता है कि दुनियाँ का कोई भी पदार्थ अनुपयोगी नहीं है। यह बात दूसरी कि मनुष्य उससे अनभिज्ञ हो। अतः अपनी चपलता के वश में होकर दुरुपयोग कर रहा हो।

एक बार की बात है - राजा और रानी अपने महल में सुकोमल सेज पर विश्राम कर रहे थे। इतने में राजा की नजर एक मकड़े पर पड़ी जो कि वहाँ महल की छत में अपने सहज भाव से जाला तान रहा था। राजा को उसे देखकर गुस्सा आया कि देखो यह बेहूदा जन्तु मेरे साफ सुथरे महल को गन्दा बना रहा है। अतः उसे मारने के लिए राजा ने तमंचा उठाया। परन्तु शीघ्रता के साथ उसका हाथ पकड़ कर रानी बोली, प्रभो ! यह आप



क्या कर रहे हैं ? आप इसे बेकार समझ रहे हैं, फिर भी अपनी-अपनी जगह सभी काम आने वाले हैं। समय पड़ने पर आपको इस बात का अनुभव होगा।

रानी के इस प्रकार मना करने पर राजा मान गया, किंतु राजा के मन में यह शंका बनी ही रही कि क्या यह भी कोई काम में आने वाला है ? अस्तु, दूसरे ही रोज राजा अपने मन्त्री आदि के साथ में घूमने को निकला तो पिछाड़ी से आकर एक कुत्ते ने राजा की जांघ में काट खाया। वैद्य से पूछा गया कि अब क्या करना चाहिये ? जवाब मिला कि यदि कहीं मकड़ी का जाला मिल जावे तो उसे लाकर इस घाव में भर दिया जावे। बस वही इसकी एक लाजवाब दवा है। यह सुनकर राजा को विश्वास हुआ कि रात वाला रानी साहिबा का कहना ठीक ही था।

मतलब यही कि अपनी-अपनी जगह सभी मूल्यवान हैं। अतः समझदार आदमी फिर क्यों किसी के साथ में मात्सर्यभाव को लेकर उसका मूलोच्छेद करना चाहे ? क्योंकि न मालूम किसके बिना इसका कौन सा कार्य किस समय अटक रहे।

## (२१) संवेगभाव

महात्मा लोगों ने निर्णय कर बताया है कि शरीर भिन्न है तो शरीरी उससे भिन्न। शरीरी चेतन और अमूर्तिक है, तो शरीर जड़ और मूर्तिक, पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड। जिसको कि यह चेतन अपनी कार्य कुशलता दिखलाने के लिये धारण किये हुए है। जैसे कि बढ़ई वसोला लिए हुए रहता है काठ छीलने के लिये, सो भोंटा हो जाने पर उसे पाषाण पर घिसकर तीक्ष्ण बनाता है और उसमें लगा हुआ बैंता अगर जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो दूसरा बदलकर रखता है। वैसे ही उपासक भी अपने इस शरीर से भगवद्भजन और समाज सेवा सरीखे कार्य किया करता है। अतः समय पर समुचित भोजन तथा वस्त्रों द्वारा इसे सम्पोषण भी देता है। परन्तु उसका यह शरीर भगवद्भजन सरीखे पुनीततम कार्य में सहायक न होकर प्रत्युत उसके विरुद्ध पड़ता हो तो इसे बेकार समझकर उपासक भी इससे उदासीन होकर रहता है।

राजा पुष्पपाल की लड़की मदनसुन्दरी जो कि आर्यिकाजी के पास पढ़ी थी। वह जब विवाह योग्य हुई तो पिता ने पूछा, बेटी कहो ! तुम्हारा विवाह किस नवयुवक के साथ में किया जावे ? लड़की ने कहा - हे भगवन् ! यह भी कोई सवाल है ? मैं इसके बारे में क्या कहूँ ? आप जैसा भी उचित समझें उसी की सेवा में मुझे अर्पण कर दें, मेरे लिये तो वही सिर का सेहरा होगा। इस पर चिढ़कर राजा ने उसका विवाह श्रीपाल कोढ़िया के साथ में कर दिया। यह बात मन्त्री मुसाहिब आदि को बहुत बुरी लगी, अतः वे सब बोले

कि प्रभो ! ऐसा न कीजिये। परन्तु मदनसुन्दरी बोली कि आप लोग इस आदर्श कार्य में व्यर्थ ही क्यों रोड़ा अटका रहे है। पिताजी तो बहुत ही अच्छा कर रहे है जो कि इन महाशय की सेवा करने का मुझे अवसर प्रदान कर रहे है। वस्तुतः शरीर तो आप लोगों का और मेरा भी सभी का ऐसा ही है जैसा कि इन महाशय का है। सिर्फ हम लोगों को लुभाने के लिये हमारे शरीरों पर चमड़ी लिपटी हुई है, किन्तु इनके शरीर की चमड़ी में छेद हो गये है ताकि भीतर की चीज बाहर में दीखने लग रही है और कोई अन्तर नहीं है। अत एव इनकी सेवा करके मुझे मेरा जन्म सफल कर लेने दीजिये। भगवान आपका भला करेंगे।

## (२२) करुणा का स्रोत

उपासक के उदार हृदय सरोवर में करुणा का निर्मल स्रोत निरन्तर बहता रहता है। वह अपने ऊपर आई हुई आपत्ति को तो आपत्ति ही नहीं समझता, उसे तो हँसकर टाल देता है परन्तु वह जब किसी दूसरे को आपत्ति से घिरा हुआ देखता है तो उसें सहन नहीं कर सकता है। वह उसकी आपत्ति को अपने ही ऊपर आई हुई समझता है। अतः जब तक उसे दूर नहीं हटा देता तब तक उसे विश्राम कहाँ ? भाण्डों ने श्रीपाल को जब अपना भाई बेटा कहकर बतलाया तो गुणमाला के पिता ने रुष्ट होकर श्रीपाल के लिये सूली का हुक्म लगा दिया, तो वे सहर्ष सूली पर चढ़ने को तैयार हो गये। परन्तु जब सत्य बात खुल गई और राजा को पता चला कि भांडों ने धवल सेठ के बहकाने से झूठी बात बनाई है। तब फिर उसने अपने पूर्व आदेश को बदलकर उन भांडों के लिये कत्ल का हुक्म दिया। जिसे सुनकर श्रीपाल कुमार काँप गये और बोले कि हे प्रभो ! आप क्या कर रहे है - जो कि इन बेचारों के लिये ऐसा कह रहे हैं ? इनका इसमें क्या अपराध है ? ये तो खुद ही गरीबी से दबे हुए है, और गरीबी के बोझ को हल्का करने के लिये इन्होंने ऐसा कहने का स्वीकार कर रखा है। जो बेचारे आर्थिक संकट के सताये हुये है, उन्हें प्रजा के स्वामी कहला कर भी आप और भी सतावें, मरे हुओं को मारें, यह तो मेरी समझ में घोर अन्याय है। प्रत्युत इसके आपको तो चाहियें कि आप इन्हें कुछ पारितोषक देकर सन्तुष्ट करिये ताकि आगे के लिए वे लोग इस धन्धे को छोड़कर उसके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करने लगें। राजा ने ऐसा ही किया और इस असीम उपकार से भाण्ड लोग श्रीपालजी के सदा के लिए ऋणी बन गये।



## (२३) आस्तिक्य भाव

उपासक जानता है कि जो जैसा करता है वह वैसा ही पाता है। जहर खाता है, सो मरता है और जो मिश्री खाता है उसका मुँह मीठा होता है। सिंह, जो कि लोगों को बर्बाद करने पर उतारु होता है तो वह खुद ही बर्बाद होकर जंगल के एक कोने में छिप कर रहता है। गाय जो कि दूध पिलाकर लोगों को आबाद करना चाहती है इसलिये वह लोगों के द्वारा आबादी को प्राप्त होती है। लोग उसका बड़े प्यार के साथ में पालन-पोषण करते हुए पाए जाते हैं। हम देखते हैं कि जो औरों के लिये गड्ढा खोदता है वह स्वयं नीचे को जाता है किन्तु महल चिनने वाला विश्वकर्मा ऊपर को चढ़ता है। इससे हमें समझ लेना चाहये कि जो दूसरों का बुरा सोचता है वह खुद बुरा बनता है, किन्तु जो दूसरों के भले के लिये प्रयत्न करता है वह भलाई पाता है। एक समय की बात है - एक राजमंत्री था वह वायु सेवनार्थ निकला तो एक जगह कुछ लड़के खेलते हुये मिले। उन सबमें एक लड़का बहुत चतुर, बुद्धिमान तथा सुलक्षण था। अतः उसे बुलाकर राजमंत्री अपने पास पुत्रभाव से रखने लगा। थोड़े दिनों के बाद प्रसंग पाकर राजा ने मन्त्री से पूछा कि बताओ इस दुनियाँ का रंग कैसा है और इसके साथ में मेरा कब तक, कैसा, क्या सम्बन्ध है ? जिसको सुनकर मंत्री घबराया, उसे इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझ पड़ा। परन्तु लडका दौड़ा और एक पंचरंगे फूलों का गुलदस्ता लाकर उसने राजा के आगे रख दिया, एवं राजा के सिर पर जो ताज था उसे लेकर झट ही उसने अपने सिर पर रख लिया। इस पर लोग हँसने लगे, किन्तु राजा ने समझाया कि लड़के ने बहुत ठीक कहा है कि जैसे इस गुलदस्ते में पांच रंग के फूल हैं वैसे ही यह दुनियां भी पांच परिवर्तन रूप पंचरंगी है और इस दुनियां के साथ में मेरा राजापने का सम्बन्ध तभी तक है जब तक कि यह ताज मेरे सिर पर है जिसके कि रहने या न रहने का पल भर का भी कोई भरोसा नहीं है। तुम लोग व्यर्थ ही ऐसे क्यों हंसते हो ? यह लड़का बड़ा बुद्धिमान है। मैं मेरे मंत्री का उत्तराधिकार इसें देता हूँ। जब तक ये मंत्री जी हैं तब तक हैं। इनके बाद में यही मेरा मन्त्री होगा। ऐसा सुनते ही मन्त्री के दिल को बड़ी चोट पहुँची। वह सोचने लगा कि हाय, यह तो बहुत बुरा हुआ। यह मन्त्री बनेगा तो फिर मेरा जायन्दा लड़का तो ऐसे ही रह जायेगा वह क्या करेगा ? क्या वह इसका पानी भरेगा ? अतः इसे अब मार डालना चाहिये। इस प्रकार विचार कर वह एक भड़भूंजे से मिला और बोला कि मैं अभी चने लेकर एक लड़के को भेजता हूँ सो तुम उसको भाड़ में झोंक देना। भड़भूंजा यह सुनकर यद्यपि कुछ संकोच में पड़ा क्योंकि उस तरह से एक बेकसूर बच्चे को आग में झुलसा देना तो घोर निर्दयता होगी। परन्तु वह बेचारा भड़भूंजा था, और इधर मन्त्री का कहना था अगर उसका कहना न करे तो रहे

कहाँ ? मन्त्री ने जाकर उस लड़के से कहा कि आज मुझे भूँगड़े खाने की जी में आ गई, तुम जाओ और उस भड़भूँजे से यह चने भुँजवा लाओ। लड़का तो आज्ञाकारी था। वह चने लेकर रवाना हुआ। उधर उस मन्त्री का जायन्दा लड़का मिल गया, वह बोला भैया तुम कहाँ जा रहे हो ? पहला लड़का बोला - पिताजी ने चने दिये हैं सो भुजवाने जा रहा हूँ। इस पर दूसरा लड़का बोला-तुम यही ठहरो, इन लड़कों के साथ में मेरी जगह गेंद खेलो, इन्हें मात दो, लाओं चने मैं भुंजवा लाता हूँ। ऐसा कहकर उसके हाथ से चने छीनकर दौड़ पड़ा और भड़भूँजे के पास गया तो जाते ही उसका काम तमाम हो गया।

बन्धुओ ! व्यर्थ की ईर्षा के वश में होकर मन्त्री पराये लड़के को मारना चाहता था तो उसका खुद का प्राणों से प्यारा लड़का मारा गया। यही सोचकर उपासक पुरुष किसी भी दूसरे के लिए कुछ भी बुरा विचार कभी नहीं करता है। वृक्ष हो और उसकी छाया न हो तो उसका होना बेकार है। नदी में यदि जल न हो तो वह नदी भी सिर्फ नाम मात्र के लिए है। उसी प्रकार मनुष्य में अगर सच्चरित्रता नहीं तो उस मनुष्य का भी जीवन नि:सार ही होता है। चरित्रहीन मानव का जीवन सुगन्धहीन फूल जैसा है।

मकान का पाया बहुत गहरा हो, दीवारें चौड़ी और संगीन हों, रंग रोगन भी अच्छी तरह से किया हुआ हो और सभी बातें तथा रीति ठीक हो, परन्तु ऊपर में यदि छत नहीं हो तो सभी बेकार। वैसे ही सदाचार के बिना मनुष्य में बलवीर्यादि सभी बातें होकर भी निकम्मी ही होती हैं। देखो रावण बहुत पराक्रमी था। उसके शारीरिक बल के आगे सभी कायल थे। फिर भी वह आज निन्दा का पात्र बना हुआ है। हम देख रहे हैं कि हर एक आदमी अपने लड़के का नाम राम तो बड़ी खुशी के साथ रख लेता है, किन्तु रावण का नाम सुनना भी पसन्द नहीं करता, सो क्यों ? इस पर सोचकर देखा जावे तो एक ही कारण प्रतीत होता है कि रावण के जीवन में दुराचार की बदबू ने घर कर लिया था। जिससे कि रामचन्द्रजी हजारों कोस दूर थे, किन्तु सदाचार को अपने हृदय का हार बनाये हुये थे। यही बात है कि सारी दुनियाँ आज श्रीरामचन्द्रजी का नाम लेकर अपने को गौरवान्वित समझती है। हम भी अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम अपने अन्तरंग में सदाचार को स्थान दें।

## (२४) सहानुभूति

दृष्टिपथ में आने वाले शरीरधारियों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) मनुष्य (२) पशु- पक्षी। इनमें से पशु- पक्षी वर्ग की अपेक्षा से आम तौर पर मनुष्यवर्ग अच्छा समझा जाता है, सो क्यों ? उसमें कौनसा अच्छापन है ? यही यहाँ देखना



है। खाना-पीना, नींद लेना, डरना, डराना और परिश्रम करना आदि बातें जैसी मनुष्य में है वैसी ही पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। फिर ऐसी कौनसी बात है जिससे मनुष्य को पशु-पक्षियों से अच्छा समझा जाता है ?

बात यह है कि मनुष्य में सहानुभूति होती है, जिसका कि पशु-पक्षियों में अभाव होता है। पशु को जब भूख लगती है तो खाना चाहता है और खाना मिलने पर पेट भर खा लेता है।उसे अपने पेट भरने से काम रहता है और उसे अपने साथियों की कुछ फिकर नहीं होती। उसकी निगाह में उसका कोई साथी ही नहीं होता जिसकी कि वह अपने विचार में कुछ भी अपेक्षा रक्खे। मनुष्य का स्वभाव इससे कुछ भिन्न प्रकार का होता है। वह अपनी तरह से अपने साथी की भी परवाह करना जानता है। यदि खाना मिलता है तो अपने साथी को खिलाकर खाना चाहता है। वस्त्र भी मिलता है तो साथी को पहनाकर फिर आप पहिनना ठीक समझता है। आप भले ही थोड़ी देर के लिये भूखा प्यासा रह सकता है परन्तु अपने साथी को भूखा प्यासा रखना या रहने देना इसके लिए अनहोनी बात है। बस इसी का नाम सहानुभूति है। जिसके बल पर मनुष्य सबका प्यारा और आदरणीय समझा जाता है। हाँ, यदि मनुष्य में सहानुभूति न हो तो फिर वह पशु से भी भंयकर बन जाता है। क्रूर से भी क्रूर सिंह भी प्रजा में इतना विप्लव नहीं मचा सकता जितना कि सहानुभूति से शून्य होने पर एक मनुष्य कर जाता है। सिंह तो क्रूरता में आकर दो चार प्राणियों का ही संहार करता है किन्तु मनुष्य जब सहानुभूति को त्यागकर एकांत स्वार्थी बन जाता है तो वह सैकड़ों, हजारों आदमियों का संहार कर डालता है। कपट वचन के द्वारा लोगों को भ्रम में डालकर बरबाद कर देता है। लोगों की प्राणों से प्यारी जीवन निर्वाह योग्य सामग्री को भी लूट खसोट कर उन्हें दुखी बनाता है। मनचलेपन में आकर कुलीन महिलाओं पर बलात्कार करके उनके शीलरत्न का अपहरण करता है। भूतल पर होने वाले खाद्य पदार्थ वगैरह पर अपना ही अधिकार जमाकर सम्पूर्ण प्रजा को कष्ट में डाल देता है।

## (२५) हिंसा का स्पष्टीकरण

इस जीव को मार दूँ, पीट दूं, या यह मर जावे, पिट जावे,दु:ख पावे इस प्रकार के विचार का नाम भावहिंसा है और अपने उस विचार को कार्यान्वित करने के लिये किसी भी तरह की चेष्टा करना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा पूर्वक ही द्रव्यहिंसा होती है। बिना भावहिंसा के द्रव्यहिंसा नहीं होती और जहाँ भावहिंसा होती है वहाँ द्रव्यहिंसा यदि न भी हो तो भी वह हिंसक या हत्यारा हो रहता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक

शल्यचिकित्सक है, डाक्टर है और वह किसी घाव वाले रोगी को नीरोग करने के लिये उसके घाव को चीरता है। घाव के चीरने में वह रोगी मर जाता है तो वहाँ डाक्टर हिंसक नहीं होता। परन्तु पारधी शिकार खेलने के विचार को लेकर जंगल में जाता है और वहाँ उसकी निगाह में कोई भी पशु पक्षी नहीं आता और लाचार होकर उसे यों ही अपने घर को लौटना पड़ता है, फिर भी वह हिंसक है, हत्यारा है। भले ही उसने किसी जीव को मारा नहीं है, फहर भी वह हिंसा से बचा हुआ नहीं है। क्योंकि प्राणियों को मारने के विचार को लिये हुये है। ऐसा हमारे महर्षियों का कहना है।

इसी को स्पष्ट समझने के लिये हमारे यहाँ एक कथा है कि- स्वयंभूरमण समुद्र में एक राघव मच्छ है, जो बहुत बड़ा है। वह जितनी मछलियों को खाता है,खा लेता है, और पेट भर जाने के बाद भी मुँह में अनेक मछलियाँ जाती है और वापिस निकलती रहती हैं। उन मछलियों को जीवित निकली देखकर उस मच्छ की आँखों पर जो एक तन्दुल मच्छ होता है वह सोचता है कि यह मच्छ बड़ा मूर्ख है जो इन मछलियों को जीवित ही छोड़ देता है, और यदि मैं इस जैसा होता तो सबको हड़प जाता। बस इसी दुर्भाव की वजह से वह मरकर घोर नरक में जा पड़ता है।

## (२६) कोई भी अपने विचारों से ही भला या बुरा बनता है

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य पापयोः प्राज्ञाः" ऐसा श्री पुरुषार्थसिद्धि उपाय में कहा गया है। अर्थात् मनुष्य जैसे अच्छे या बुरे विचार करता है वैसा स्वयं बना रहता है, यह निःसंदेह बात है। विचार मनुष्य का सूक्ष्म जीवन है तो कार्यकरण उसका स्थूल रूप। मनुष्य का मन एक समुद्र सरीखा है, जिसमें कि विचार की तरंगे निरंतर चलती रहती हैं। पूर्व क्षण में कोई एक विचारों वाला होता है तो उत्तर क्षण में कोई और दूसरा। जैसे किसी को देखते ही विचारता है कि मैं इसे मार डालूं परन्तु उत्तर क्षण में विचार सकता है कि अरे मैं इसे क्यों मारूँ - इसने मेरा क्या बिगाड़ किया है ? यह अपने रास्ते है तो मैं अपने रास्ते, इत्यादि। हाँ, जबकि यह बुरा है, काला है, देखने में भद्दा है, मेरे सामने क्यों आया ? यह मारा जाना चाहिये, ऐसी अनेक क्षणस्थायी एक सी विचारधारा बनी रहती है। तब उसी के अनुसार बाह्य चेष्टा भी होने लगती है। आँखें लाल हो जाती हैं, शरीर काँपने लगता है। वचन से कहता है इसे मारो, पकड़ो, भागने न पावे एवं स्वयं उसे मारने में प्रवृत्त होता है तो आम लोग, कहने लगते हैं कि यह हिंसक है, हत्यारा है, इस बेचारे रास्ते चलते को मारने लग रहा है।

हां, यदि कहीं वही चित्त कोमलता के सम्मुख हुआ तो उपर्युक्त विचारों के बदले वहां इस प्रकार के विचार हो सकते हैं कि अहो ! देखो यह कैसा गरीब है, जिसके कि



पास खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा भी नहीं है। जिससे कि इसकी यह दयनीय दशा हो रही है। मैंने तो अभी खाया है, ये रोटियाँ बची हुई हैं इसे दे देता हूँ ताकि यह खाकर पानी पी ले। तथा मेरे पास अनेक धोती और कुरते हैं उनमें से एक-एक इसे दे दूँ, सो पहन ले तो अच्छा ही है एवं मैंने तो नया खांचा बना ही लिया है, वह पुराना खांचा जो पड़ा है इसे दे दूँ। पानी की बाढ़ आ जाने से सड़क पर गड्ढे पड़ गये हैं, जिससे आने जाने वालों को कष्ट होता देखकर सरकार की तरफ से उसकी मरम्मत का काम चालू है, जहां कि काम करने को मैं जाया करता हूँ वहाँ इसे भी ले चलूँ, ताकि यह भी धन्धे पर लग जावे तो ठीक ही है। यद्यपि इन विचारों को कार्यान्वित करने में प्रासंगिक प्राणी वध होना सम्भव ही नहीं बल्कि अवश्यम्भावी है फिर भी ऐसा करने वाला हिंसक नहीं किन्तु दयालु है। क्योंकि वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा है। अपने से होने योग्य एक गरीब भाई की मदद कर रहा है। उसके कष्ट को दूर करने में समुचित सहयोग दे रहा है। प्राणि वध तो उसके ऐसा करने में होता है सो होता है वह क्या करे ? वह उसका उत्तरदायी नहीं है। मनुष्य अपने करने योग्य कार्य करे। उसमें भी जो जीव वध हो उसके द्वारा भी यदि हिंसक माना जावे तब तो फिर कोई भी अहिंसक हो ही नहीं सकता। क्योंकि आहार, निहार और विहार जैसी क्रियाएँ तो जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है तब तक साधु-महात्मा लोगों को भी करनी ही पड़ती है। जिसमें जीव वध हुए बिना नहीं रहता अतः यही मानना पड़ता है कि जहाँ जिसके विचार जीव मारने के हैं, वहीं वह हिंसक, हत्यारा या पापी है, किन्तु जिसके विचार किसी को मारने के नहीं है और उसके समुचित आवश्यक कार्य करने में कोई जीव यदि मर भी जाता है तो वह हिंसक नहीं है।

## (२७) अहिंसा की आवश्यकता

जैसे पापों में सबसे मुख्य हिंसा है वैसे ही धर्माचरणों में सबसे पहला नम्बर अहिंसा का है। जिस किसी के दिल में हिंसा से परहेज या अहिंसा भाव नहीं है तो समझ लेना चाहिये कि वहाँ सदाचार का नामोनिशान भी नहीं है। अहिंसा का सीधा सा अर्थ है, किसी भी प्राणी का वध नहीं करना। जीना सबको प्रिय है, मरना कोई नहीं चाहता। अतः अहिंसा कम से कम अपने आपके लिये सबको अभीष्ट है। जो खुद अहिंसा को पसन्द करे परन्तु औरों के लिये हिंसामय प्रयोग करे उसे प्रकृति मंजूर नहीं करती, रुष्ट हो रहती है। जिससे कि विप्लव मचता है जैसा कि प्रायः आजकल देखने में आ रहा है। आज का अधिकांश मानव स्वार्थ के वश होकर दूसरों को बरबाद करने की ही सोचता रहता है। किसी ने तो टेलीफोन का उद्घाटन करके हलकारे की रोजी पर कुठाराघात किया है तो

कोई खरादि के पुतलों द्वारा लिखा पढ़ी का काम लेना बताकर क्लर्क लोगों की आजीविका का मूलोच्छेद करने जा रहा है। किसी ने कुकर चूल्हा खड़ा करके अपने आप खाना बनाना बताकर पूँजीवादियों की पीठ ठोकते हुऐ बिचारे खाना बनाने वाले रसोईदारों को बेकार बनाने पर कमर कस ली है। इसी प्रकार रोज एक से एक नई तजबीज खड़ी की जा रही है। जिनसे गरीबों के धन्धे छिनते जा रहे हैं और धनवान लोग फैशनबाज, आराम-तलब एवं लापरवाह होते जा रहे हैं।

बन्धुओ ! जरा आप ही सोचकर कहिये कि उर्पयुक्त बातों का और फिर हाल ही क्या होता है ? किस लिए ऐसा किया जाता है या नहीं होता है ? क्या काम करने वाले लोगों की कमी है ? किन्तु नहीं। क्योंकि किसी प्रकार के काम करने वाले की बाबत आप आवश्यकता निकाल कर देखिये कि आपके पास एक नहीं बल्कि पचासों प्रार्थना-पत्र आ पहुँचेंगे कि आपके यहाँ अमुक कार्य करने मैं आ रहा हूँ, सिर्फ आपकी आज्ञा आ जानी चाहिये इत्यादि। हाँ, यह जरूर कहा जा सकता है कि नये नये आविष्कारों को जन्म दिये बिना विज्ञान की तरक्की नहीं हो सकती, परन्तु वह विज्ञान भी किस काम का जो समाज को भूखों मारने का कारण बन कर घातक सिद्ध हो रहा हो। वह जङ्गली जीवन भी अच्छा जहाँ कि कम से कम और कुछ नहीं तो फल फूल तो खाने को मिल जावें तथा वृक्षों के पत्ते तन ढाँकने को मिल जावें। वह महलों का निवास किस काम का ? जहाँ पर चकाचौंध में डालने वाले अनेक प्रकार के दृश्य होकर भी भूखे के लिये पानी नदारत हो, बल्कि जहाँ अपना खाना ले जाकर भी खाया जाता हो तो महल मैला हो जाने के भय से छीन कर फेंक दिया जावे। मेरी समझ में आज का विज्ञान भी ऐसा ही है जो हमें अनेक प्रकार की आश्चर्यकारी चीजें तो अवश्य देता है, परन्तु इसने आम जनता की रोटियाँ छीन ली हैं और छीनता ही जा रहा है। कहीं राकेट बनाकर उड़ाने में समय खोया जा रहा है तो कहीं अणुबम के परीक्षण में जनता के धन और जीवन को बरबाद किया जा रहा है। सुना है कि एक अणुबम को तैयार करने में सतह अरब रुपया खर्च होता है जिसका कि निर्माण जन-संहार के लिये होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका ने जापान पर अणुबम का प्रयोग किया था। जिसकी सताई.हुई जनता आज तक भी पनप नहीं पाई है। अभी अभी परीक्षण के हेतु एक बम समुद्र में डाला गया जिससे ऋतु वैपरीत्य होकर कितनी बरबादी हो रही है, यह पाठकों के समक्ष में है।

मतलब यह है कि विज्ञान के साथ-साथ अगर अहिंसा की भावना भी बढ़ती रहे तब तो विज्ञान गुणकारी हो किन्तु आज तो परस्पर विद्वेषभाव अहंकार आदि की बढ़वारी होती जा रही है। अतः तरक्की पर होकर भी घातक होता जा रहा है।



## (२८) अहिंसा के दो पहलू और उसकी सार्थकता

किसी को नहीं मारना चाहिये या कष्ट नहीं देना यह अहिंसा का एक पहलू है; तो दूसरा पहलू है कि किसी भी कष्ट में पड़े हुये के कष्ट को निवारण करने का यथाशक्य प्रयत्न करना। ये दोनों ही बातें साधक में एक साथ होना चाहिये तभी वह अहिंसक बन सकता है। अधिकांश देखने में आता है कि आज की दुनियाँ के लोग कीड़े-मकोड़े सरीखों को ही मारने में पाप समझते हैं सो तो ठीक है परन्तु किसके साथ में कैसा व्यवहार करना चाहिये मेरे इस बर्ताव से सामने वाला बन्धु निराकुल होने के बदले कहीं उल्टा कष्ट से तो नहीं घिर जायेगा इस बात का विचार बहुत कम होता है। इसी से हरेक देश, हरेक समाज, हरेक जाति और हरेक घर नरक जैसा बनता जा रहा है। प्रायः हरेक आदमी का यही रवैया हो लिया है कि दूसरे आदमी काम खूब करें और खाना बहुत कम खावें बल्कि न खावें तो और भी अच्छा है, किन्तु मुझे काम बहुत कम करना पड़े और खाने को मनचाहा खूब मिले। बस इसी हिंसामय दुर्विचार से ईर्षा और द्वेष की आग धधक रही है जिसमें सारा ही विश्व झुलसा जा रहा है। परस्पर प्रेम का भाव हम लोगों के दिल में से उठता जा रहा है। प्रेम अहिंसा का संजीवन माना गया है। जब कि किसी के प्रति हार्दिक प्रेम भावना होती है तो अपने आप यह विचार आने लगता है कि इसे कहीं परिश्रम न करना पड़े। मैं ही मेरे अथक परिश्रम से कार्य को सम्पन्न करलूँ और उसका फल हम दोनों मिलकर भोगें। इस प्रकार प्रेम रूप अमृत स्रोत से ही अहिंसा रूप वल्लरी पल्लवित होती है।

## (२९) पुराने समय की बात

एक शाही घराना था। सेठ सेठानी प्रौढ़ अवस्था पर थे। जिन के पांच लड़के और सबसे छोटी लड़की थी। बड़े चारों लड़कों की शादियाँ होकर उनके बाल बच्चे भी हो गये थे। छोटे लड़के की भी शादी तो हो गई थी मगर बहू अभी अपने पिता के यहाँ ही थी। यहाँ घर पर एक कन्या चार बहुयें और एक सास इस प्रकार छह औरतें थीं जो सब मिलजुल कर घर का कार्य चलाना चाहतीं तो अच्छी तरह से चला सकती थीं, परन्तु परस्पर प्रेम का अभाव होने से तेरे मेरे में ही उनका अधिकांश समय बरबाद हो जाता था। एक सोचती थी कि मुझे काम कम करना पड़े और आराम विशेष मिले, तो दूसरी सोचती थी कि मैं ही काम क्यों करूँ ? इस तरह से कलह का साम्राज्य हो गया था। इसी बीच में छोटी बहू मायके (पीहर) में आई जो कि एक शिक्षित घराने की लड़की थी। उसने बालकपन में

अच्छी शिक्षा पाई थी, भले संस्कारों में पली थी। वह जब आई और घर का वातावरण दूषित देखा तो घबरा गई। वह क्या देखती है कि सास और जेठानियाँ बिना कुछ बात पर आपस में लड़ रही हैं ! यह देखकर वह रो पड़ी और मन ही मन सोचने लगी कि हे भगवान् ! क्या मेरे भाग्य में यही सिनेमा देखने को बदा है ? मैं यहाँ किस तरह से अपनी जिन्दगी बिता सकूँगी। यों रोते-रोते वह थक गई और बेहोश-सी हो गई। आवाज आई कि उठ सावधान हो ! लोहे को कंचन बनाने के लिये पारस के समान तेरा समागम इस घर को सुधारने के लिये ही तो हुआ है !

## (३०) अपनी भलाई ही है औरों के सुधारने में

उसने सोचा यहाँ पर मुख्य लड़ाई काम करने की है। इन्हें इनके विचारानुसार काम करने में कष्ट का अनुभव होता है ये सब अपने को आलसी बनाये रखने में ही सुखी हुआ समझती है, यदि घर के धन्धों को मैं मेरे हाथ से करने लग जाऊं तो अच्छा हो, मेरा शरीर भी चुस्त रहे और इन लोगों का आपस का झगड़ा भी मिट जाये, एक तीर्थ और दो काज वाली बात है। अब एक रोज जब कि सब जनी भोजनपान के अनन्तर आकर एक जगह बैठी थीं तो सुशिक्षिता ने कहा कि सासूजी और जीजीबाईयों सुनो, मेरे रहते हुये आप लोग काम करो यह मेरे लिये शोभा की बात नहीं, अपितु मैं इसमें अपनी हानि और मेरा अपमान ही समझती हूँ। यहाँ कोई विशेष काम भी नहीं है और मेरा अभ्यास कुछ ऐसा ही है कि काम करने में ही मुझे आनन्द मालूम होता है। अतः कल से घर का रसोई पानी का काम मैं ही कर लिया करूँ, ऐसी आज्ञा चाहती हूँ। इस पर बड़ी जेठानी बोली कि कँवरणीजी ! अभी तो आपके खाने-पीने और विनोद कर बिताने के दिन हैं, फिर तो तुम्हें ही सब कुछ करना पड़ेगा ताकि करते-करते थक भी जाओगी। सुशिक्षिता नम्रता के साथ कहने लगी - जीजी कि मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ मुझे निराश मत करो, मेरे तो यही काम करने के दिन हैं, अभी से करने लगूँगी तो कुछ दिनों में आप लोगों के शुभाशीर्वाद से आगे को काम करने लायक रहूँगी। अन्यथा मैं तो आलसी बन रहूँगी, तो फिर भविष्य में कुछ भी न कर सकूँगी। यथाशक्ति घर का काम करना मेरा कर्त्तव्य है। अतः दया कीजिये और मुझ से काम लीजिये। हाँ, यह अवश्य हो कि मैं भूल जाऊं तो बताते तथा होशियार अवश्य करते रहने की कृपा करें।

अब वह रोज सबेरे उठती और नहा धोकर भगवद्भजन करके भोजन बनाने में लग रहती थी। अनेक तरह का सरस, स्वादिष्ट भोजन थोड़ी सी देर में तैयार कर लेती और सबको भोजन करवा कर बाद में आप भोजन किया करती थी। यदि कभी कोई



पाहुणा आ गया और असमय में भी भोजन बनाना पड़ा तो बड़े उत्साह के साथ वही भोजन बनाया करती थी।

यह देखकर सास ने एक दिन आश्चर्यपूर्वक पूछा कि बहू ! तू ऐसा क्यों करती है? सब काम अकेली ही क्यों किया करती है ? तब सुशिक्षिता बोली कि सासूजी ! आप यह क्या कह रही हैं ? काम करने से कोई दुबला थोड़े ही हो जाता है। काम करने से तो प्रत्युत शरीर स्वस्थ रहता है। यह तो मेरे घर का कार्य है, मुझे करना ही चाहिये। कोई भी अपना काम करे इसमें तो बुराई ही क्या है ? मनुष्यता तो इसमें है कि अपने घर का काम सावधानता से निबटा कर फिर पड़ोसी के भी काम में हाथ बटाया जावे। यह शरीर तो एक रोज मिट्टी में मिल जावेगा। हो सके जहाँ तक इसको दूसरों की सेवा में लगा देना ही ठीक है।

सुशिक्षिता की जेठानियाँ भी यह सब बात सुन रही थीं अतः वे सब सोचने लगीं कि देखो हम लोग कितनी भूल कर रही हैं। पड़ोसिन के कार्य में हाथ बटाना तो दूर रहा हम लोग तो अपने घर के कार्यों को भी इसी के ऊपर छोड़कर बेखबर हो रही हैं। जैसा ही इस घर में होने वाला कार्य इसका है, इससे पहिले हमारा भी तो है फिर हम लोगों को क्यों न करना चाहिये, जी क्यों चुराना चाहिये ? बस अब सभी अपना-अपना कार्य स्वयं करने लगीं।

## (३१) कोई किसी से जैसा कराना चाहे वैसा खुद करे

सुशिक्षिता ने देखा कि अब मेरे जुम्मे कोई ख़ास काम नहीं रहा है तो एक दिन वह चक्की तो घर में थी ही कुछ गेहूँ लेकर पीसने बैठ गई। उसे ऐसा करते देखकर सास आई और बोली कि बहू आज यह क्या कर रही है ? क्या पवन चक्की दुनिया से उठ गई? ताकि तू गेहूँ लेकर पीसने को बैठी है ? इस पर सुशिक्षिता बोली कि सासूजी आप या जेठानियाँ और तो कुछ करने नहीं देतीं, खुद करने लग गई हैं तो फिर मैं क्या करूँ ? काम नहीं करने से शरीर आलसी बन जाता है, दिन भर निठल्ला बैठे रहने से मन में अनेक प्रकार के खोटे विचार आते हैं। पीसने से कसरत भी कुछ सहज ही बन जाती है ताकि शरीर और मन दोनों प्रसन्न हो रहते हैं। इसके अलावा पवन चक्की का आटा खाने से धार्मिक और आर्थिक हानि के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी बिगड़ता है इसलिये मैंने ऐसा करना ठीक समझा है।

सुशिक्षिता को ऐसा कहती हुई सुनकर जिठानियों को तमाशा सा लगा अतः एक-एक करके वे सब भी उसके पास में आ खड़ी हुयीं और देखने लगीं। एक ने देखा कि यह तो बड़ी ही आसानी से चक्की को घुमा रही है एवं एक प्रकार का आनन्द का अनुभव कर रही है जरा मैं भी इसे घुमा कर क्यों न देखूँ ? ऐसे मन से उसके साथ आटा पीसने को बैठी और थोड़ी देर बाद बोली कि अहो, यह तो बहुत अच्छी बात है। यद्यपि थोड़ा परिश्रम तो इसमें होता है, सो तो हिंडोले पर हींडने में भी होता है, जो कि मनोविनोद के लिये किया जाता है। इसमें तो विनोद का विनोद और काम का काम तथा शरीर बिल्कुल फूल जैसा ही हल्का बन जाता है। मैं भी रोजमर्रा थोड़ा बहुत पीसा करूँगी। फिर क्या था, फिर तो क्रम-क्रम से सभी पीसने लगीं।

सुशिक्षिता ने फिर फुरसत पाई कि हाथ में बुहारी लेकर घर का कूड़ा कचरा साफ किया और फिर घड़ा लेकर कुएँ पर पानी भरने को जाने लगी तो सासू ने प्रेम से कहा-बेटी यह क्या करती है ? घर पर तो नौकर बहुत हैं, उनसे काम कराओ। जवाब में सुशिक्षिता ने कहा माताजी ! कोई व्यक्ति आप बैठा रहकर नौकरों से काम ले, मैं इसे अच्छा नहीं समझती, क्योंकि क्या उसके खुद के हाथ पैर नहीं हैं ? अगर हैं तो ऐसा क्यों होना चाहिये ? ऐसा करना तो मेरी समझ में उन नौकरों के साथ में दुर्व्यवहार करना है, नौकर भी तो, समझदार के लिये भाई-बन्धुस्थानीय ही होते हैं। उन्हें तो इसलिये रक्खा जाता है कि समय पर मनुष्य से खुद से काम पूरा न किया जा सकता हो या जिस-जिस काम को वह नहीं कर जानता हो वह काम प्रेम-पूर्वक उनसे लेता रहे। कार्य करने से मनुष्य की प्रतिष्ठा कम नहीं होती प्रत्युत बढ़ती है। प्रष्तिठा के कम होने का तो कारण है स्वार्थपरायणता या विलासिता। सुशिक्षिता की ऐसी ज्ञान भरी बात सुन कर सेठानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह मन में सोचने लगी कि अहो ! देखा इसके कितने ऊँचे विचार हैं, यह साक्षात् भलाई की मूर्ति ही प्रतीत होती है जिस की वजह से आज मेरे इस घर में शांति का साम्राज्य हो गया है जहाँ पर कि इससे पूर्व में कलह का आतंक छाया हुआ था। अब एक रोज सेठानी ने बाजार से मंगवाकर सब बहुओं को उनके साल भर के खर्च के योग्य छः-छः जोड़ा साड़ियों के दिये तो सुशिक्षिता अपने उन जोड़ों में से एक जोड़ा लेकर, हे जीजी ! मेरे पास पहले ही से बहुत सी साड़ियां मेरी पेटी में धरी रखी हैं काम में नहीं आतीं तो मैं अब इनका क्या करूँगी ? अतः यह एक साड़ी जोड़ा आप ही ग्रहण करें, ऐसा कहते हुए बड़ी जेठानी को भेंट किया एवं एक-एक जोड़ा और जेठानियों को दिया तथा ननद को भी एक जोड़ा दे दिया जिससे वे सब बड़ी प्रसन्न हुई।

इधर सेठानी को यह बात मालूम हुई तो उसने पूछा कि बहू यह क्या किया ? तो



सुशिक्षिता बोली कि सासूजी आप ही देखती हैं कि मैं तो मेरे हाथ के कते हुए सूत से खुद ही बुनकर तैयार कर लेती हूँ, उसी साड़ी को पहनती हूँ। जो कि साल भर में दो साड़ियाँ ही मेरे लिये पर्याप्त होती हैं किन्तु मैं साल भर में छः सात साड़ियाँ तैयार कर लेती हूँ जो कि मेरे पास सन्दूक में भरी रक्खी हैं। मैं तो उनमें से भी इनको देना चाहती हूँ, परन्तु ये जीजी बाइयाँ भले घरानों की हैं। इन्हें ये साड़ियाँ पसन्द नहीं आती। आज आपने ये बेशकीमती साड़ियां मँगवाकर हम सबको पारितोषक रूप में दीं तो आपका हाथ पाछा गिराना तो मैंने उचित नहीं समझा किन्तु मैं व्यर्थ ही उनका संग्रह करके क्या करती ? अतः एक-एक जोड़ा मैंने इनको दे दिया। अब यह एक जोड़ा और शेष है इसको भी अगर आप अपने लिये रख लें तो बहुत अच्छा हो। आपके काम में आ जावेगा, वरना मेरे पास तो व्यर्थ ही पड़ा रहेगा। मैं तो मेरी हाथ की बुनी हुई साड़ियों में से भी कभी किसी नौकरानी को तो कभी किसी गरीब बहिन को दे दिया करती हूँ। संग्रहवृत्ति, या फैशनबाजी को मैं मेरे लिये अच्छा नहीं समझती। वस्त्रादि चीजों को संग्रह कर रखने में मन उन्हीं वस्तुओं में चिपका रहता है। मोह उत्पन्न होता है। जो बहिनें नित्य नई पोशाकें बदलना जानती हैं वे सब अपने पतिदेवों को व्यर्थ की परेशानी में डालने का काम करती हैं। क्योंकि अन्याय अनर्थ का न होता कार्य करके भी धन कमा लाकर उनकी हविस पूरी करने की ही चिन्ता रहती है। जो कि एक बड़ी भारी हिंसा है जिसका उत्तरदायित्व उन मेरी फैशनबाज बहनों के जुम्मे होता है, जिन्हें कि शोभा का प्रलोभन होता है। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि शोभा तो गहनों और कपड़ों से न होकर समुचित निःस्वार्थ सेवा और परोपकार आदि सद्गुणों द्वारा होगी। इस प्रकार सुनकर सेठानी ने कहा कि बहू तेरा कहना बहुत ठीक है, आज से मैं तो यह प्रतिज्ञा करती हूँ कि मेरे हाथ के बने हुए कपड़ों को ही पहिनाँ करूँगी एवं सादगी से अपना जीवन बिताऊँगी।

## (३२) अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है

किसी को भी मारना हिंसा है, न कि मरना। क्योंकि मरना तो कभी न कभी शरीरधारी को पड़ता ही है। हाँ अपने आप जानबूझकर, पर्वत से पड़कर, कूप में पड़कर, तलवार खाकर या विष भक्षण कर मरना वह मरना नहीं है, किन्तु अपने आपको मारना है। जैसे दूसरों को मारना हिंसा है वैसे ही अपने आपको मारना भी हिंसा ही नहीं बल्कि घोर हिंसा है। जिसको आत्मघात बताकर महर्षियों ने उसकी घोर निन्दा की है और जबकि मारने का नाम हिंसा है तो फिर हिंसा किये बना निर्वाह नहीं हो सकता यह विश्वास झूठा है। क्या किसी को मारे बिना किसी का काम नहीं बन सकता ? नहीं ऐसी

बात नहीं है। हाँ, कोई बहुत या थोड़ी हिंसा करता है तो कोई हिंसा किये बिना भी रह सकता है। बल्कि अहिंसा के बिना किसी का भी गुजर नहीं हो सकता। एक बड़े से बड़ा पारधी जिसने प्राणियों को मारना ही अपना काम समझ रखा है वह भी कम से कम, अपने उसका पक्ष करने वाले को तो नहीं मारता है। अतः यह तो मानना ही होगा कि अहिंसा सभी की उपास्य देवता है।

हाँ, यह कहा जा सकता है कि अपने शरीर का निर्वाह अपने आप करने वाला आदमी भले ही माँस न खाये और खून या शराब पिये बिना रह जावे परन्तु साक सब्जी तो उसे खानी ही होगी और प्यास बुझाने के लिए स्वच्छ पानी भी पीना ही होगा। बस इसीलिए हमारे दिव्य ज्ञानी महर्षियों ने बतलाया है कि कौटुम्बिक जीवन वाले लोगों को स्थावर हिंसा करना आवश्यक है, उसके बिना उनका निर्वाह नहीं हो सकता किन्तु त्रस हिंसा तो उनको भी नहीं करना चाहिये।

## (३३) अहिंसा में अपवाद

पीछे बताया गया है कि त्रसों की हिंसा कभी नहीं करना चाहिये, फिर भी साधक के सम्मुख ऐसी विषम परिस्थिति कभी-कभी आ उपस्थित होती है कि वह उसे हिंसा करने के लिए बाध्य करती है। मान लीजिये कि आप यात्रा को जा रहे हैं। एक कुलीन बहिन भी आपके भरोसे पर आपके साथ चल रही है। रास्ते में कोई लुटेरा आकर उस पर बलात्कार करना चाहता है। क्या आप उसे ऐसा करने देंगे ? कभी नहीं। जहाँ तक हो सकेगा उसका हाथ भी उस बहन को नहीं लगने देने के लिए आप डट कर उस डाकू का मुकाबला करेंगे और उसे मार लगायेंगे।

एक जच्चा है जिसके बच्चा होने वाला है। बहुत देर हो गई वह परेशान हो रही है। बच्चा और किसी भी उपाय से बाहर नहीं आता है तो फिर डॉक्टर उस बच्चे को खण्ड-खण्ड करके बाहर निकालता है। क्या करे लाचार है। बच्चे को मार कर भी जच्चा को बचाता है।

अपने जीवन में ऐसे और भी अनेकानेक प्रसंग उपस्थित होते हैं जहाँ पर गृहस्थ को अपने अभीष्ट को बचाये रखने के लिए तद्विरोधी अनिष्ट का परिहार करना ही पड़ता है। इस पर आज हमें ऐतिहासिक घटना का स्मरण हो आता है। 'विश्वशान्ति के अग्रदूत श्री वर्द्धमान स्वामी नाम' की पुस्तक जो कि श्री दिगम्बरदास जैन मुख्त्यार सहारनपुर की लिखी हुई है, उसके तीसरे भाग पृष्ठ ४२६ में लेखक लिखता है -



## (३४) जैन वीरों की देशभक्ति

मुसलमानों ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। वहाँ के सेनापति आबू व्रती श्रावक थे। जो कि नित्य नियमपूर्वक प्रतिक्रमण किया करते थे। शत्रुओं से लड़ते-लड़ते उनके प्रतिक्रमण का समय हो गया जिसके लिए उन्होंने एकान्त स्थान पर जाना चाहा, परन्तु मुसलमानों की जबरदस्त सेना के सामने अपनी मुट्ठी भर फौज के पाँव उखड़ते देखकर राष्ट्रीय सेवा के कारण रणभूमि को छोड़ना उचित न जाना और दोनों हाथों में तलवार लिए हौदे पर बैठे हुए बोलने लगे-'जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया वा बेइंदिया वा' इत्यादि जिसको सुनकर सेना के सरदार चौंक उठे कि देखो ये रणभूमि में भी जहाँ कि तलवारों की खनाखन और मारो-मारो के भयानक शब्दों के सिवाय कुछ सुनाई नहीं देता, वहाँ एकेन्द्रिय-दो इन्द्रिय जीवों तक से क्षमा चाह रहे हैं, ये नरम-नरम हलवा खाने वाले जैनी क्या वीरता दिखा सकते है ? प्रतिक्रमण का समय समाप्त होने पर सेनापति ने शत्रुओं के सरदार को ललकारा कि ओ ! इधर आ, हाथ में तलवार ले खाँडा सँभाल ! अपनी वीरता दिखा, होश कर मन की निकाल ! धर्म का पालन किया हो तो धर्म की शक्ति दिखा वरना जान बचाकर फौरन यहाँ से भाग जा ! इस पर शत्रुओं का सरदार उत्तर भी देने न पाया था कि जैन सेनापति आबू ने इस वीरता और योग्यता से हमला किया कि शत्रुओं के छक्के छूट गये और मुसलमान सेनापति को मैदान छोड़ कर भागना पड़ा। फिर क्या था, गुजरात का बच्चा-बच्चा आबू की वीरता के गीत गाने लगा। उसको अभिनन्दन पत्र देते हुए रानी ने हँसी में कहा कि सेनापति ! जब युद्ध में एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय जीवों तक से क्षमा माँग रहे थे तो हमारी फौज घबरा उठी थी कि एकेन्द्रिय जीव से क्षमा माँगने वाला पंचेन्द्रिय मनुष्य को युद्ध में कैसे मार सकेगा ! इस पर व्रती श्रावक आबू ने उत्तर दिया कि महारानीजी ! मेरे अहिंसा व्रत का सम्बन्ध मेरी आत्मा के साथ है। एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय जीवों तक को बाधा न पहुँचाने का जो नियम मैंने ले रखा है वह मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा से है। देश की सेवा अथवा राज्य की आज्ञा के लिए यदि मुझे युद्ध अथवा हिंसा करनी पड़े तो ऐसा करने में, मैं मेरा धर्म समझता हूँ क्योंकि मेरा यह शरीर राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसका उपयोग राष्ट्र की आज्ञा और आवश्यकता के अनुसार ही होना उचित है परन्तु आत्मा और मन मेरी निजी सम्पत्ति है। इन दोनों को हिंसा भाव से अलग रखना मेरे अहिंसा व्रत का लक्षण है। ठीक ही है, ऐसा किये बिना गृहस्थों का निर्वाह नहीं हो सकता। गृहस्थ ही क्या, कभी-कभी तो साधु महात्माओं तक को भी ऐसा करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

पद्मपुराण में एक जगह वर्णन आता है कि रावण पुष्पक विमान में बैठकर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था तो रास्ते में कैलाश पर्वत पर आकर उसका विमान रुक गया। मेरे विमान को किसने रोक लिया, इस विचार से वह इधर-उधर देखने लगा तो नीचे पर्वत पर बाली मुनि को तपस्या करते हुए पाया और विचार किया कि इन्हीं ने मेरे विमान को रोका है। अतः रोष में आकर सोचने लगा कि मैं मेरे इस अपमान का इनसे बदला लूँगा, पर्वत सहित इनको उठाकर समुद्र में डाल दूँगा। और जब वह अपने इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिये पहाड़ के मूल भाग में पहुँच गया तो महर्षि ने सोचा कि यदि कहीं यह सफल हो गया तो बड़ा अनर्थ हो जावेगा। भरत चक्रवर्ती के बनाये हुए बहुमूल्य और ऐतिहासिक जिनायतन भी नष्ट हो जावेंगे। उन्होंने अपने पैर के अँगूठे से जरा दबा दिया तब रावण दब कर रोने लगा। तब मन्दोदरी ने आकर महर्षि से अपने पति की भिक्षा माँगी तो महर्षि ने पैर को ढीला किया।

## (३५) जैन कौन होता है ?

'पक्षपातं जयतीति जिनः जिन एव जैनः।' अर्थात् जो कोई भी महाशय यह तेरा है और यह मेरा, यह अच्छा है और यह बुरा। इस प्रकार के विच्छिन्न भावों को अपने मन में से निकाल बाहर कर देता है एवं जो सदा सब तरफ सबके साथ एक-सी माध्यमिक व्यापक दृष्टि से देखने लगता है वह जैन कहलाता है। यह दुनियाँदारी का पामर प्राणी अनायास ही अपने शरीर और इन्द्रियों के सम्पोषण रूप स्वार्थ में संलग्न पाया जाता है जो कि शरीर नश्वर है तथापि आत्मा अविनश्वर, किन्तु इसकी विचारधारा इस ओर नहीं जाती। यह तो अपनी मोटी बुद्धि से इस चलते फिरते शरीर का ही आत्मा समझे हुये है। अतः इसे बिगड़ने न देकर चिरस्थायी बनाये रखने की सोचता है, एवं इसके काम में जो सहायता देने वाले हैं उन्हें अपने और अच्छे मानकर अपनाता है। किन्तु इससे विरुद्ध को पराये और बुरे समझकर उन्हें बरबाद करने में तत्पर है एवं संघर्ष का जन्मदाता बना हुआ है शान्ति से दूर है।

हाँ, मनुष्य अगर अपनी प्रज्ञा से काम ले तो इसकी समझ में आ सकता है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न चीजें हैं, शरीर जड़ और नाशवान है तो मेरी आत्मा चैतन्य की धारक शाश्वत रहने वाली। एवं जैसी मेरी आत्मा है वैसी ही इन इतर शरीरधारियों की भी आत्मायें हैं, ऐसे विचार को लेकर फिर वह जिसमें किसी भी प्राणी को कष्ट हो ऐसी चेष्टा न करके ऐसी प्रक्रिया करता है जिसमें कि प्राणीमात्र का हित सन्निहित हो। यानी जो स्वार्थ से दूर रहकर पूर्णतया परमार्थ की सड़क पर आ जाता है, वहीं जैन



कहलाता है, एवं इस प्रकार जैन बनने का हरेक मनुष्य को अधिकार है यदि वह उपर्युक्त रूप से आत्म-साधना को स्वीकार कर ले। बस ऐसा जिसका विश्वास हो वह जैन होता है जो कि अहिंसा में रुचि रखने वाला होता है, हिंसा से परहेज करता है।

## (३६) अहिंसक के लिये विरोध का क्षेत्र

जो अहिंसक होता है वह स्वयं तो वीर बहादुर होता है। उसे किसी से भी किसी प्रकार का डर नहीं होता। परन्तु उसने जिस बुजदिलों या बाल वृद्ध आदि लोगों को सँभाल रखने का संकल्प ले रक्खा है, उन लोगों पर यदि कोई मनचला आदमी अनुचित आक्रमण करके गड़बड़ी मचाना चाहता है तो उसे सहन कर लेना उसके आत्मत्व से बाहर की बात हो जाती है। अतः वह उसे उस गड़बड़ी को करने से रोता है कहता सुनता है। यदि कहने सुनने से मान जावे तब तो ठीक ही है। और नहीं तो फिर बल प्रयोग द्वारा भी उसका उसे प्रतिवाद करना पड़ता है। इसी का नाम विरोध है जो कि एक अहिंसक का कर्तव्य माना गया है। क्योंकि ऐसा न करने से अपने आश्रितों की रक्षा करने का और दूसरा कोई चारा नहीं होता।

इस विरोध करने में आक्रमणकारी का कुछ न कुछ बिगाड़ अवश्य होता है जिसको कि लेकर विरोधक को हिंसक ठहराया जाया करता है। परन्तु वहाँ पर जितना भी बिगाड़ होता है उसका उत्तरदायी तो वह आक्रमक ही है। विरोधक तो अपने उन लोगों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है, जिनकी रक्षा करने का उसने प्रण ले रक्खा है एवं समर्थ है।

## (३७) राम और रावण

वे दोनों ही यद्यपि महाकुलोत्पन्न थे। महाशक्तिशाली थे। अनेक प्रकार के हथियारों को धारण करने वाले थे। फिर भी दोनों के कर्तव्य कार्य में बड़ा भारी अन्तर था। राम की शक्ति और उनके हथियारों का प्रयोग सदा परमार्थ, परोपकार के लिये हुआ करता था। किन्तु रावण की सारी चेष्टायें स्वार्थ भरी थीं। क्योंकि राम सुपथगामी के साथी दृढ़मना महापुरुष थे किन्तु रावण दुरभिलाषी था, मनचलेपन को लिये हुये था। श्री रामचन्द्रजी की शक्ति और हथियारों का प्रयोग सदा विश्वकल्याण के लिये हुआ करता था। किन्तु रावण की सभी क्रियायें औरों की तो बात ही क्या अपने कुटुम्ब के लोगों के भी विरुद्ध उनको कष्ट देने वाली होकर सिर्फ उसकी स्वार्थान्धता को ही पनपाने वाली थीं, इसमें अगर कोई कारण था तो उसका मनचलापन ही था।

## (३८) कुलक्रम निश्चित नहीं है

कश्यपु के प्रहलाद हो, अग्रसेन के कंश।
फिर कोई कैसे कहैं, किसका कैसा वंश।।

चिरन्तर काल से चली आई हुई इस मनुष्य परम्परा में कोई आदमी सरल स्वभाव का होता है, किन्तु उसका लड़का बिलकुल वक्र स्वभाव वाला दीख पड़ता है। और अज्ञानी बाप का लड़का अतिशय तीक्ष्ण बुद्धि वाला पाया जाता है। हिरण्यकश्यपु एकान्त नास्तिक विचार वाला था किन्तु उसी का लड़का प्रह्लाद परम आस्तिक था। एवं महाराज उग्रसेन जो कि परम क्षत्रिय थे, प्रजा वत्सल थे उनका लड़का कंस उनके बिलकुल विपरीत उग्र स्वभाव का, घातक, प्रजा को निष्कारण ही कष्ट देने वाला हुआ। ऐसी हालत में कौन आदमी कैसे माँ-बाप का लड़का है इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? यद्यपि मूँगों से मूँग ही पैदा होते हैं, फिर भी उन्हीं में कोई-कोई घोरडू भी पैदा होता है जो कि न तो सीझता ही है और न भीजता ही। जिस खदान में पत्थर निकलते हैं उसी में कहीं कभी हीरा भी निकल आता है। यही कुलक्रम का हाल है।

## (३९) एक भील का अटल संकल्प

महाभारत में एक जगह आया है कि बाण-विद्या की कुशलता के बारे में द्रोणाचार्य की प्रसिद्धि सुनकर एक भील उनके पास आया और बोला कि प्रभो ! मुझको बाण विद्या सिखा देवें। द्रोणाचार्य ने जवाब दिया कि मैं अपनी विद्या क्षत्रिय को ही सिखाया करता हूँ, यह मेरा प्रण है। अतः मैं तुझे सिखाने के लिए लाचार हूँ। इस पर भील ने कहा प्रभो ! मेरा भी दृढ़ संकल्प है कि मैं आप से ही विद्या सीखूँगा, ऐसा बोलकर चला गया और द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उसके आगे बाण चलाना सीखने लगा। कुछ दिन में वह अर्जुन से भी अधिक प्रवीण हो गया। एवं उसकी फैलती हुई बाण विद्या की कीर्ति को सुना तो घूमते फिरते हुए द्रोणाचार्य एक रोज उसके पास आये और बोले कि भाई ! तुमने यह विद्या किससे सीखी है। उत्तर में यह कहते हुए कि प्रभो ! मैंने आपसे ही सीखी है। यह देखिये आपकी मूर्ति बना कर रख छोड़ी है। द्रोणाचार्य के चरणों में गिर गया। द्रोणाचार्य बोले यदि ऐसा है तो इसकी दक्षिणा मुझे मिलनी चाहिये। जवाब मिला आप जो चाहें सो ही लीजिये। द्रोणाचार्य बोले और कुछ नहीं सिर्फ अपने दाहिने हाथ का अगूँठा दे दो। भील ने झट अगूँठा काटकर दे दिया। द्रोणाचार्य हँसे और बोले कि भील अब तुम बाण कैसे चलाओगे ? गुरु कृपा चाहिये, ऐसा कहते हुए भील ने पैर के अँगूठे से बाण चला दिया।



द्रोणाचार्य ने उसकी पीठ ठोकते हुए कहा कि शाबास बेटे ! किन्तु किसी भी प्राणी की हिंसा करने में इस विद्या का दुरुपयोग मत करना। जवाब मिला कि प्रभो ! हिंसा करना तो कमीनापन है मैं कमीना नहीं हूँ। इस पर द्रोणाचार्य हँसे। उनके हँसने का मतलब भील समझ गया। अतः वह बोला कि प्रभो ! यद्यपि मैं एक वनचर का लड़का हूँ किन्तु मैं समझता हूँ कि जन्म से कोई नीच और उच्च नहीं होता। जन्म तो सब का एक ही मार्ग से होता है। नीचता और उच्चता तो मनुष्यों के विचारों या कर्तव्य पर निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्वार्थपरता को अपनाकर चोरी, चुगलखोरी जैसे दुष्कर्मों में फँसा रहता है वह मनुष्यता से दूर होने के कारण नीच बना रहता है। परन्तु जो मनुष्यता को समझता है वह इन दुर्गुणों से बिल्कुल दूर रहकर परोपकार, सेवाभाव आदि सद्गुणों को अपनाता है एवं उच्च बनता है। मैं भी अपने आप को मनुष्य मानता हूँ फिर आप ही कहें कि मैं मनुष्यता को कैसे भूल सकता हूँ ?

शस्त्र संधारण कर्ता को भी आज हिंसा का कारण मानकर हेय समझा जाने लगा है जो कि पूर्व जमाने में क्षत्रियता का भूषण होता हुआ चला आया है। पाषाण काल के अन्त में जब लोगों के लिए कृषि सम्पादन की आवश्यकता हुयी तब दिव्य ज्ञानी भगवान् ऋषभदेव ने उसकी सुव्यवस्था के लिए मनुष्यमात्र को तीन भागों में विभक्त किया।

१. क्षत्रिय, २. वैश्य, ३. शूद्र। उनमें से वैश्यों के जुम्मे खेती करने का और उसमें उत्पन्न हुयी चीजों को यहाँ वहाँ पहुँचाने का काम सौंपा गया। शूद्रों को उन्हीं चीजों को मनुष्यों के काम में आने योग्य बनाने का काम सौंपा गया और क्षत्रियों को उन सब की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। तब उन सबको उनके योग्य हथियार बना कर दिये गये थे ताकि वे लोग आसानी से अपने-अपने कार्य को सुसम्पन्न कर सकें। जैसे-किसान के लिए हल, मूसल वगैरह। लोहार के लिए हथौड़ा घन, वगैरह। वैसे ही क्षत्रिय वर्ग लिए तलवार, बन्दूक वगैरह दिये गये थे जिनके द्वारा क्षत्रिय वर्ग अपने प्रजा संरक्षण रूप कार्य में कुशलता पूर्वक उत्तीर्ण हो रहे हैं। एवं वास्तव में वह हिंसा का नहीं बल्कि अहिंसा का पोषक ही ठहरता है। यह बात दूसरी है कि वह अगर किसी साँसी बावरिया आदि हिंसक व्यक्ति के हाथ में आ जावेगा तो अवश्य ही हिंसा में प्रयुक्त होगा परन्तु वह उस हथियार का दोष नहीं, वह तो उस व्यक्ति के मन चलेपन का फल है। हाँ, आज की जनता का अधिकांश यह हाल है कि वह क्षत्रियता से दूर होकर स्वार्थपरायणता की ओर ही बड़ी तेजी से दौड़ी चली जा रही है। इसलिए शस्त्रवृत्ति भी अनुपयोगी ही नहीं प्रत्युत घातक बनती जा रही है। जब कोई किसी भी शस्त्रधारी को देखता है तो भय के मारे थर-थर काँप उठता है क्योंकि उसके मन में यह शस्त्रधर है, सबल है, अतः मेरी रक्षा करेंगे ऐसा

विचार न आकर इसके स्थान पर यही भाव उत्पन्न होता है कि यह कहीं मुझे मार न डाले। क्योंकि आज जहाँ तहाँ बलियानबलं ग्रसते वाली कहावत के अनुसार जो भी बलवान है वह अपने उस बल का दुरुपयोग दुर्बलों को हड़पने में करता हुआ देखा जाता है। इसलिए हमारी सरकार को भी यह नियम बनाना पड़ा है कि जो कोई भी शस्त्र रखना चाहे वह शस्त्र धारण करने से पहले इस बात को प्रमाणित कर दे कि "मैं उस शस्त्र के द्वारा संरक्षण का ही काम लूँगा, संहार करने का नहीं।" भले ही हमारी सरकार ने सर्वसाधारण को चुनौती दी है फिर भी मनचले आदमी समय पर अपनी काली करतूतों से बाज नहीं आते हैं।

## (४०) अहिंसा की निरुक्ति

हिंसा के अभाव का नाम अहिंसा है। हनन हिंसा, इस प्रकार हन धातु से हिंसा शब्द निष्पन्न हुआ है जो कि हन धातु सकर्मक है। यानी किसी को भी मार देना, कष्ट पहुँचाना, सताना हिंसा है। परन्तु किसी भी अबोध बालक का पिता, गलती करते हुए अपने उस बच्चे की गलती को सुधारने के लिए उसे डराता, धमकाता है और फिर भी नहीं मानने पर उसे मारता, पीटता है। अब शब्दार्थ के ऊपर ध्यान देने से पिता का यह काम हिंसा में आ जाता है एवं वह हिंसक बनकर पापी ठहरता है जो कि किसी भी प्रकार किसी को भी अभीष्ट नहीं है, अतः उस दुर्गुण से बचने के लिए हमारे महापुरुषों ने इसमें एक विशेषता स्वीकार की है। वह यह कि किसी को भी बरबाद कर देने की दृष्टि से उसे कष्ट दिया जावे तो वह हिंसा है। जैसा कि उमास्वामी महाराज के 'प्रमत्त-योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्र से स्पष्ट है। मतलब यह है कि जो उसके पालन-पोषण का पूर्ण अधिकारी है वह बालक के जीवन को निराकुल बनाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है। तो बालक जबकि अपने भोलेपन के कारण उसके जीवन को समुन्नत बनाने वाली भलाई की ओर न बढ़कर प्रत्युत बुराइयों में फँसने लगता है तब ऐसा करने से रोकने के लिए उसे डाँट बताना पिता का कर्तव्य हो जाता है। इस प्रकार अपने कर्तव्य का निर्वाह करता हुआ पिता पुत्र का मारक नहीं किन्तु संजीवक, संरक्षक होकर उसके द्वारा सदा के लिए समादरणीय होता है।

## (४१) राजनीति और धर्मनीति

इन दोनों में परस्पर विरोध है। क्योंकि धर्म तो अहिंसा का पालन करने एवं उसे अन्त तक अक्षुण्ण रूप निभा दिखलाने को कहते हैं। परन्तु राजाओं का काम अपने राज्य



शासन को बनाये रखना होता है। अतः उसके लिए येन-केन रूपेण अपने पक्ष को प्रबल बनाते चले जाना और अपने विरोधियों का दमन करते रहना होता है। इसलिए राज्यसत्ता हिंसापूर्ण पापमय हुआ करती है ऐसा कुछ लोग समझ बैठे हैं, किन्तु विचार करने पर यह ठीक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि धर्म जो कि विश्व के कल्याण का चीज है उसे अपने जीवन में उतारने का नाम नीति है। राजा प्रजा का पालक होता है। सम्पूर्ण प्रजा को पापंक से बचाकर उसे धर्म के पथ पर समारूढ़ करा देना ही राजा का काम है, प्रजा में सभी तरह के लोग होते हैं अतः जो लोग अपने मनचलेपन से उत्पथ की ओर जा रहे हों उन्हें नियन्त्रित करने के लिए विधान करना शिष्टों का अनुग्रह करना, उन्हें सत्पथ की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहन देना और दुष्टों की दुष्टता को निकालकर शिष्टता के सम्मुख होने को उन्हें बाध्य करना यह राजनीति है। इसलिए यह धर्म के विरुद्ध कैसे कही जा सकती है ? यह तो धर्म को प्रोत्साहन देने वाली है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि धर्म तत्व सदा अटल है परन्तु नीतितत्वों में देश, काल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। फिर भी उस संविधान का कलेवर जितना भी हो वह सारा का सारा ही जन-समाज के हित को लक्ष्य में लेकर किया हुआ होना चाहिये। उसका एक भी विधेयक ऐसा नहीं हो जो कि किसी के भी व्यक्तिगत स्वार्थ को लेकर रचा गया है।

## (४२) हिंसा के रूपान्तर

चीन देश में बौद्धों का निवास है, उन लोगों को विश्वास है कि किसी भी प्राणी को मार कर नहीं खाना चाहिये। मुर्दा माँस के खाने में कोई दोष नहीं है। वहाँ ऐसी प्रवृत्ति चल पड़ी है कि जिस बकरे वगैरह को खाने की जिसकी दृष्टि होती है वह उसको मकान में ढकेल कर कपाट बन्द कर देता है और दो चार दिन में तड़फड़ा करके जब वह मर जाता है तो उसे खा लिया जाता है। कहने को कहा जाता है कि मैंने इसे नहीं मारा है, यह तो अपने आप मर गया है परन्तु उस भले आदमी को सोचना चाहिये कि यदि वह उसे बन्द न करता तो वह क्यों मरता ? अतः यह तो उस प्राणी को मारने के साथ-साथ अपने आपको धोखा देना है, सो बहुत बुरी बात है।

हाँ, माता अपने पुत्र में कोई बुरी आदत देखती है तो उसे उसको छोड़ने को कहती है, और नहीं मानता है तो धमकाने के लिये कभी-कभी उसे रस्से वगैरह से भी कुछ देर के लिये बाँध देती है या मकान के अन्दर बन्द कर देती है, सो ऐसा करना हिंसा में शुमार नहीं होना चाहिये क्योंकि यह तो उसको सुधारने के लिए किया जाता है। अन्तरंग में उसके प्रति उसका करुणाभाव ही होता है। देखो माता अपने बच्चे को जब चपेट मारने लगती है तो दिखती बड़े जोर से है किन्तु बच्चे के गाल के समीप आते ही उसका वेग बिल्कुल धीमा

पड़ जाता है क्योंकि उसके दिल में दया और प्रेम का भाव होता है ताकि वह सोचती है कि यह डर कर सुधर जावे जरूर, किन्तु इसके चोट नहीं आने पाये। सो ऐसा तो करना ही पड़ता है, परन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि मनुष्य अपना बैर-भाव निकालने के लिए अपने कमजोर पड़ोमी को मुक्कों - मुक्कों की मार से घायल कर डालता है। या कोई पशु उसकी धान की ढेरी में मुँह दे जावे तो रोष में आकर ऐसी लाठी वगैरह की चोट मारता है कि उसकी टांग वगैरह टूट जाती है सो ऐसा करना बुरा है।

पशु पालक लोग बैलों को बधिया कर लेते हैं या उनके नाक में नाथ डालते हैं। वनचर लोग सुरभिगाय की पूंछ तरास लेते हैं या हाथी के दाँत काट लेते हैं यह भी एक तरह की हिंसा है। क्योंकि ऐसा करने में उस पशु को पूरा कष्ट होता है और काटने वाले की केवल स्वार्थपूर्ति है। हाँ किसी भी रोगी को डाह वगैरह दिया जाता है वह बात दूसरी है। किसी से भी शक्ति से अधिक काम लेना सो अतिभारारोपण है। जिस पशु पर पांच मन वजन लादा जा सकता है, उस पर लोभ- लालच के वश हो छह मन लाद देना। जो चलते-चलते थक गया है, चल नहीं सकता है, उसको जबरन हण्टर के जोर से चलाते ही रहना। किसी भी नौकर-चाकर से रुपये की एवज में सत्रह आने का काम लेने का विचार रखना, इत्यादि सब बातें भी हिंसा से खाली नहीं हैं।

हम देखते हैं कि प्रायः भले-भले रईस लोग भी, जब उनका नौकर बीमार हो जाता है और काम नहीं आता है तो उसका इलाज कराने की सोचना तो दर- किनार रहा प्रत्युत उसकी उस दिन की तनखा भी काट लेते हैं। भला जरा सोचने की बात है, अगर आपकी मोटर या बाइसिकल खराब हो जावे तो उसकी मरम्मत करावेंगे या नहीं ? यदि कहें कि उसको तो दुरुस्त कराना ही होगा तो फिर नौकर जो आप ही सरीखा मानव है वह उस निर्जीव बाइसिकल से भी गया बीता हो गया है ? ताकि आप उसकी परवाह न करें। इसको काम करते-करते कितनी देर हो गयी है, भोजन का समय हो गया है, भूख लग आयी होगी, इस बात पर कोई ध्यान न देकर सिर्फ अपना काम हो जाने की ही सोचते रहना निर्दयता से खाली नहीं है। परन्तु इसके साथ में हम यह भी देखते हैं कि अधिकांश नौकर लोग भी मुफ्त की नौकरी लेना चाहते हैं। काम करने से भी जी चुराते हैं, मालिक का काम भले ही बिगड़े या सुधरे इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती है। बल्कि यही सोचते हैं कि कब समय पूरा हो और कब मैं यहाँ से चलूँ सो यह भी बुरी बात है और पाप है। सिद्धान्त तो यह कहता है कि मालिक और नौकर में परस्पर पिता- पुत्र का सा व्यवहार होना चाहिये।



# (४३) अहिंसा का माहात्म्य

जो किसी को भी कभी नहीं मारना चाहता उसे भी कोई क्यों मार सकता है ? जिसकी आन्तरिक भावना निरन्तर यही रहती है कि किसी को भी कोई तरह का कष्ट कभी भी न होवे तथा इसी विचारानुसार जिसकी बाहरी चेष्टा भी परिशुद्ध होती है उसकी उस पुनीत परिणति का प्रभाव ऐसा होता है कि उसके सम्मुख में आ उपस्थित हुआ एक खूँख्वार प्राणी भी जरा देर में शान्त हो रहता है। उसके ऊपर आयी हुई आपत्ति भी उसके आत्मबल से क्षण भर में सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इस बात के उदाहरण हमारे पुरातन इतिहास में भरे हुए हैं। वारिषेण पर चलाया हुआ खड्ग उसका कुछ भी बिगाड़ न कर सका, सोमासती को मारने के लिये लाया हुआ काला नाग उसके छूते ही फूलमाला बन गया और एक गठरिया में बाँधकर तालाब में डाले गये राजकुमार और यमदण्ड चाण्डाल, इन दोनों में से राजकुमार तो मगरमच्छ द्वारा भक्षण कर लिया गया किन्तु यमदण्ड चाण्डाल बाल-बाल बच गया, इत्यादि ये सब अहिंसा के ही प्रभाव हैं।

सुना जाता है कि दिग्विजय के लिए प्रस्तुत हुआ सिकन्दर जब भारत से वापस लौट चला तो रास्ते में उसकी एक परमहंस महात्मा से भेंट हुयी। उन्हें देखते ही सिकन्दर के रोष का ठिकाना न रहा। वह बोला-अबे बेअदब ! तू इस प्रकार लापरवाह होकर कैसे खड़ा है ? तुझे मालूम नहीं कि सामने से कौन आ रहा है ? खबरदार हो, सँभल जा वरना तो फिर देख यह तलवार आती है। महात्मा तो अपने ध्यान में मस्त थे ! परमात्मा से प्रार्थना कर रहे थे कि हे भगवान् सबको सुबुद्धि दे। वे क्यों उसकी बात सुनने लगे। अतः उसी प्रकार निःशंक खड़े रहे। तब सिकन्दर के मन में एकाएक परिवर्तन हो गया कि अहो ! यह तो खुदा का रूप है, प्रकृति की देन है, अपने सहजभाव से खड़ा है, मैं क्यों व्यर्थ ही इस पर रोष कर रहा हूँ ? एवं वह अपनी तलवार को वापिस म्यान में रखकर उसके चरणों में गिर पड़ा और बोला-कि प्रभो ! मैं समझता था कि मुझे कोई नहीं जीत सकता परन्तु आपने मुझे जीत लिया है। फिर भी मैं इस पराजय को अपना सौभाग्य समझता हूँ। इसी प्रकार ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में एक लुटेरा हो गया है, वह जिसे भी पाता था उसकी हाथों की अंगुलियों को जला दिया करता था और उसके पास के माल को छीन लिया करता था। इसलिये लोग उसे अंगुलिमाल कहते थे। वह किसी भी राजा महाराजा से नहीं पकड़ा जा सका था। एक बार महात्मा बुद्ध उधर होकर जाने लगे तो लोग बोले महात्मन् इधर को मत जाइये, इधर में तो अंगुलिमाल है जो कि बड़ा भंयकर है। परन्तु उन्होंने लोगों के कहने को नहीं सुना और चले ही गये। जब अंगुलिमाल ने देखा तो बोला-अबे ! कौन है ? खड़ा रह, कहाँ जा रहा है ? बुद्ध ने चलते-चलते जबाब दिया मैं

तो खड़ा ही हूँ, तूं चलता है, सो तू खड़ा रह। अंगुलिमाल ने कहा, बड़ा विचित्र आदमी है ! चला जा रहा है और बोलता है कि खड़ा तो हूँ ? बुद्ध ने कहा-भाई मैं ठीक तो कह रहा हूँ, दुनियाँ के लोगों को ठहरने के लिए जो बात होनी चाहिये मैं तो उसी बात पर स्थित हूँ परन्तु तू इसके इधर-उधर जा रहा है अतः तुझे उसको सम्भालना चाहिये। बस इतना सुनना था कि अंगुलिमाल के विचारों में बिल्कुल परिवर्तन हो गया। अहो ! मैं शरीर से मानव होकर भी मानवता से बिल्कुल दूर हूँ। मुझे इन महात्मा के निकट रहकर मनुष्यता का पाठ पढ़ना चाहिये। इस तरह सोचकर उसका परम शिष्य बन गया ।

## (४४) सत्य की पूजा

आमतौर पर जैसा का तैसा कहने को सत्य समझा जाता है। परन्तु भगवान महावीर ने वाचनिक सत्य की अपेक्षा मानसिक सत्य को अधिक महत्व दिया है। हम देखते है कि काणे के काणा कहने पर वह चिढ़ उठता है, उसके लिये काणा कहना यह सत्य नहीं, किन्तु झूठ बन जाता है क्योंकि उसमें वह अपनी अवज्ञा मानता है। है भी सचमुच ऐसा ही। जब उसे नीचा दिखाना होता है तभी कोई उसे काणा कहता है। मानो अन्धे को अन्धा कहने वाले का वचन तो सत्य होता है फिर भी मन असत्य से घिरा हुआ होता है। क्षुद्रता को लिए हुए होता है। अन्यथा तो फिर आइये, सूरदासजी ! इन मिष्ट शब्दों में उसका आमन्त्रण किया जा सकता है। हाँ, वहीं कोई छोटा बच्चा बैठा हो और उसकी माँ उससे कहे कि बेटा ! यह अन्धा है, इसे इसकी आँखों से दीखता नहीं है। इस पर फिर बच्चा कहे कि अरे यह अन्धा है ? इसे इस की आँखों से दीखता नहीं है ? तो यह सुनकर औरों की ही तरह उस अन्धे को भी दुःख नहीं होगा प्रत्युत वह भी प्रसन्न ही होगा क्योंकि बच्चे के मन में फितूर नहीं किन्तु वह सरल होता है। वह तो जैसा सुनता है या देखता है वैसा ही कहना जानता है, बनावटीपन उसके पास बिल्कुल नहीं होता ।

बालक के सरल और स्वाभाविक बोलने पर जब लोग हँसते हैं तो मेरे विचार में वह बालक उन्हें हँसते देखकर अपने विकासशील हृदय में सोचता है कि मेरे इस बोलने में कुछ कमी है इसीलिये वे सब मेरा उपहास कर रहे हैं। बस इसीलिये वह अपने उस बोलने में धीरे-धीरे बनावटीपन लाने लगता है। मतलब यह हुआ कि सत्य बोलना तो मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है किन्तु झूठ बोलना सीखना पड़ता है।

लोग कहा करते हैं कि दुनियादारी में आदमी का काम असत्य बोले बिना नहीं चल सकता। परन्तु उनका यह विश्वास उल्टा है क्योंकि किसी के कार्य के होने या करने में सत्य क्यों रोड़ा अटकाने लगा, बल्कि यों कहना चाहिये कि सत्य के बिना काम नहीं चल



सकता। जो लोग व्यर्थ के प्रलोभन में पड़कर असत्य के आदी बने हुए हैं उन्हें भी अपने असत्य पर सत्य का मुलम्मा करना पड़ता है तभी गुजर होती है। फिर भी उनके मन में यह भय तो लगा ही रहता है कि कहीं हमारी पोल न खुल जावे। ऐसी हालत में फिर सत्य ही की शरण क्यों न लेनी चाहिये जिससे कि निःसंकोच होकर चला जा सके। कुछ देर के लिये कहा जा सकता है कि इस स्वार्थ भरी दुनियाँ में सत्यप्रिय को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, सो भी कब तक ? जब तक लोगों को यह पता न हो जावे कि यहाँ पर असत्य को कोई स्थान नहीं है। लोग सोचते हैं कि दुनियाँ दुरंगी है और उसी दुनियाँ में ही यह भी रहता है। अतः उस दुरंगेपने से बच कैसे सकता है ? बस इसीलिये सत्यवादी को लोग कसौटी पर कसकर देखना चाहते हैं एवं जहाँ वह उनकी कसौटी पर खरा उतरा कि फिर तो लोग उसका पीछा नहीं छोड़ते। एक समय की बात है कि एक मारवाड़ी भाई श्री आचार्य १०८ श्री वीरसागर जी महाराज के दर्शन करने के लिये आया। महाराज ने उससे पूछा क्या धन्धा करते हो ? तो जवाब मिला कि आसाम में कपड़े की दुकान है। महाराज ने कहा सत्य से व्यापार करो तो अच्छा हो। इस पर वह हिचकिचाहट करने लगा। महाराज ने फिर कहा, कम से कम तुम छः महीने के लिए ऐसा करो, समझो कि बैठा खा रहा हूँ। तब उसने कहा, हाँ, इतना तो मैं कर सकता हूँ। सत्यवादी को इस बात पर ध्यान रखना होता है कि मेरे साथ में जिसका लेन-देन हो उसे अच्छा सौदा मिले एवं दो पैसे कम में मिले तथा प्रेम का बर्ताव हो। बस उसने ऐसा ही करना शुरु किया। फिर भी जो कि पहले से मोल मुलाई करते आ रहे थे उन्हें एकाएक उस पर विश्वास कैसे हो सकता था ? अतः फिर ग्राहक लौट कर जाने लगे। मगर जब देखा कि उस दुकान से और दुकान पर हरेक चीज के एक दो पैसे अधिक ही लगते हैं तो लोगों के दिल में उसकी दुकान के प्रति प्रतिष्ठा जम गई। फिर क्या था ? उत्तरोत्तर रोज अधिक से अधिक संख्या में ग्राहक आने लगे और बेबूझ होकर सौदा लेने लगे।

## (४५) सत्यवादी के स्मरण रखने योग्य बातें

जो सत्य का प्रेमी हो, सचाई पर भरोसा रखता हो, उसे चाहिये कि वह किसी की भी तरफदारी कभी न करे। अपने गुण अपने आप न गावे। दूसरे के अवगुण कभी प्रकट न करे। किसी की कोई गोपनीय बात कभी देखने जानने में आ जावे तो औरों के आगे कभी न कहे। हमेशा नपे तुले शब्द कहे। एवं अपने आप पर काबू पाये हुए रहे तभी वह अपने काम में सफल हो सकता है।

उदाहरण स्वरूप हमें यहाँ सत्यवादी श्री हरिश्चन्द्र का स्मरण हो आता है जो कि

शयन दशा में दे डाले हुए अपने राज्य को भी त्याज्य समझ लेते हैं और फिर उसको उत्सर्ग करने के प्रतिफलरूप में बनारस के कालू भंगी के यहाँ कर्मचारी हो रहने को भी अपना सौभाग्य समझते हैं। इधर उन्हीं के समान उनकी पत्नी जो कि एक गृहस्थ के यहाँ नौकरानी बनकर अपना गुजरबसर करने लग रही थी, उसके पुत्र रोहितास को सर्प काट जाता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी लाश को वह ( रानी ) ले जाकर जब हरिश्चन्द्र घाट पर जलाने लगती है तो हरिश्चन्द्र अपने मालिक कालू के द्वारा निश्चित की हुई टैक्स वसूल किये बिना जलाने नहीं देते हैं। अपने मन में जरा भी संकोच नहीं करते हैं कि यह मेरे पुत्र की लाश है और मेरी ही स्त्री इसे जला रही है। बल्कि सोचते हैं जब मेरे मालिक ने टैक्स निश्चित कर रखा है और उसकी वसूली के लिए मुझे यहाँ नियत किया है, फिर भला कोई भी क्यों न हो उससे टैक्स वसूल करना मेरा धर्म है। ओह ! कितना ऊँचा आदर्श है ? जिसे स्मरण कर हृदय विभोर हो जाता है। परन्तु उन्हीं की सन्तान प्रति-सन्तान आज के इन भारतवासियों की तरफ जब हम निगाह डालते हैं तो रुलाई भी आ जाती है, क्योंकि आज के हम तुम सरीखे लोग दो-दो पैसे में अपने ईमान-धर्म को बेचने के लिए उतारु हो रहते हैं ! बल्कि कितने ही लोग तो बिना मतलब ही झूठी बातें बनाने में प्रवृत्त होकर अपने आपको धन्य मानते हैं। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि सत्य के बिना मनुष्य का जीवन वैसा ही है जैसा कि बकरी के गले में हो रहने वाले स्तन का होता है।

## ( ४६ ) सत्य परमेश्वर है

मैं जब बालबोध कक्षा में पढ़ रहा था तो एक दोहा मेरी किताब में आया :-

> साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
> जाके मन में साँच है, वाके मन में आप।।

इसमें आये हुए आप शब्द का अर्थ अध्यापक महोदय ने परमेश्वर बतलाया जो कि मेरी समझ में नहीं आया। मैं सोचने लगा साँच तो झूठ का प्रतिपक्षी है, बोलचाल की चीज है, उसका ईश्वर के साथ में क्या संबंध हुआ ? परन्तु अब देखता हूँ कि उनका कहना ठीक था। क्योंकि दुनियाँ के जितने भी कार्य हैं वे सब सत्य के भरोसे पर ही चल रहे हैं। आप लोगों की धारणा भी यही है कि दुनियाँ का नियन्ता या कर्ता-धर्ता परमेश्वर है ऐसी हालत में यह ठीक ही है कि सत्य ही परमेश्वर है जिसके कि सर्वथा न होने पर विश्व के सारे काम ठप्प हो जाते हैं। महात्मा गाँधी ने जब सत्याग्रह का काम चालू किया तो सबसे पहले उन्होंने यही कहा कि जो लोग परमेश्वर पर भरोसा रखते हों वे ही लोग मेरे इस



आन्दोलन में शामिल होवें। इस पर किसी भद्र पुरुष ने सवाल किया कि क्या फिर आपके इस काम में जैन लोग न आवें ? क्योंकि वे लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं। परन्तु महात्माजी ने कहा कि तुम भूलते हो क्योंकि जो सत्य और अहिंसा को मानता है वह ईश्वर को अवश्य मानता है।

मतलब यह कि जैन लोग ईश्वर को नहीं मानते सो बात नहीं किन्तु उनके विचारानुसार ईश्वर हमारे हरेक कार्य करने वाला हमारा कोई नौकर नहीं है किन्तु पदार्थ परिणमनशील स्वभाव है जिसका कि दूसरा नाम सत्य है उस पर भरोसा रखकर अपना काम हम खुद करते हैं। हमें जब जो काम करना होता है तब अपने साहस, धैर्य और प्रयत्न से उसके योग्य साधन सामग्री को जुटाकर एवं उसकी बाधक सामग्री से बचते हुए रहकर उसे कर बताते हैं। हाँ, हम छद्मस्थों की बुद्धि की मन्दता से उपर्युक्त प्रयत्न में जो कुछ कमी रह जाती है तो उतनी ही उस कार्य में सफलता कम मिलती है एवं प्रयत्न विपरीत हो जाने पर कार्य भी विपरीत हो रहता है। हाँ, कितने ही कार्य जैसे वर्षा का होना,सर्दी का फैलना, गर्मी का पड़ना आदि कार्य उपर्युक्त सत्य के आधार पर तत्काल के वातावरण को पाकर ही सम्पन्न हो रहते हैं उन्हें प्राकृतिक कहा जाता है। परन्तु उपर्युक्त वातावरण के समुद्गम में भी हम सरीखे प्राणियों का अहिंसा भाव उपयोगी होता है। इस तरह से सत्यनारायण को विश्व का सम्पादक तथा अहिंसा उसकी शक्ति है ऐसा कहा जावे तो कोई अनहोनी बात नहीं है।

## ( ४७ ) अदत्तादान का विवेचन

बलात्कार या धोखेबाजी से किसी दूसरे के धन को हड़प जाना सो अदत्तादान है। बलात्कार से दूसरे के धन को छीन लेने वाला डाकू कहलाता है तो बहानाबाजी से किसी के धन को ले लेने वाला चोर कहलाता है। चोरी या डकैती करना किसी का जातीय धन्धा नहीं है, जो ऐसा करता है वही वैसा बन रहता है। डाकू को तो प्रायः लोग जान जाते हैं अतः उससे सावधान होकर भी रह सकते हैं मगर चोर की कोई पहचान नहीं है। अतः उससे बचना कठिन है। जो कि चोर अनेक तरह का होता है जिसके प्रचलन को चौर्य कहना चाहिये। वह भी डाका डालने की तरह से अदत्तादान है, बिना दिये ही ले लेना है। जैसे किसी सुनार को जेवर बना देने के लिए सोना दिया गया तो वह जेवर बना देता है और उसकी उचित मजूरी लेता है वह तो ठीक, किन्तु उसमें थोडी बहुत खाद अपनी तरफ से मिला देता है उसकी एवज में सोना जो रख लेता है वह उसका अदत्तादान हुआ, बिना दिये लेना हुआ, अतः चोर ठहरता है। दर्जी कोट वगैरह बनाकर देता है और उसकी